आचार्य श्री हरिभद्र सूरि

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय

श्रीहरिभद्र सूरि रचित—

जैन योग : ग्रन्थ-चतुष्टय

[योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक एवं योगविंशिका
हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन सहित]

मार्ग-दर्शन : संयोजन

परम विदुषी जैन साध्वी श्री उमरावकंवरजी 'अर्चना'

सम्पादक : अनुवादक : विवेचक

डॉ० छगनलाल शास्त्री एम.ए.

(हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी)
पी-एच-डी. काव्यतीर्थ विद्यामहोदधि

प्रकाशक

मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राजस्थान)

विदुषी श्रमणीरत्न महासती श्री उमरावकुंवर जी महाराज के
५९ वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में संकलित प्रकाशन

☐ जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय—आचार्य श्री हरिभद्र सूरि

☐ संयोजिका—विदुषी जैन साध्वी उमरावकंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादक—डा० छगनलाल शास्त्री

☐ सम्प्रेरक—मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'

☐ प्रकाशक—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
पीपलिया बाजार, ब्यावर ३०५९०१

☐ प्रथम संस्करण—वि. सं. २०३८। ई. सन् अगस्त १९८२
वीर निर्वाण संवत् २५०९

☐ मूल्य—१२) बारह रुपया सिर्फ

☐ मुद्रण—श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
स्वास्तिक आर्ट प्रिंटर्स, सेठ गली, आगरा

समर्पण

जिनके जीवन से शौर्य की दीप्तिमयी आभा सदा छिटकती रही,

कर्म-शूर तथा धर्म-शूर की द्विपदी का अमर घोष जिनके जीवन में अनवरत गुञ्जित रहा,

जिनके कर्म-मानस में करुणा का अगम, धवल निर्झर सदा प्रवहणशील रहा,

निःस्पृहता, तितिक्षा, सेवा, पर-दुःख-कातरता जैसे उत्तमोत्तम मानवीय गुणों द्वारा जिनका जीवन सुसज्ज एवं शोभित रहा, जिनका सौम्यविभूति-भूषित, प्रभविष्णु व्यक्तित्व सब के लिए दिव्य प्रेरणा-स्रोत था,

जो अपनी वदान्यता द्वारा जन जन को उपकृत करते रहे, जिनसे मैंने अपनी जीवन-यात्रा में, धर्म-यात्रा में सदा पाया ही पाया : वात्सल्य, स्नेह, प्रेरणा, करुणा तथा अनुग्रह का अपरिसीम पुण्य-भंडार,

उन

अविस्मरणीय, अभिवन्दनीय, सार्वतीय परम श्रद्धास्पद

पितृचरण

स्व० मुनि श्री मांगीलालजी महाराज की पावन स्मृति में

—जैन साध्वी **उमरावकुंवर** 'अर्चना'

प्रकाशकीय

ज्ञान मनुष्य का तृतीय नेत्र है। यह नेत्र पूर्व कर्म-क्षयोपशम से स्वयं भी खुल सकता है, और किसी किसी के गुरु जनों के उपदेश व शास्त्र-स्वाध्याय से भी खुलते हैं। उपादान तो आत्मा स्वयं है, किंतु निमित्त भी बहुत मूल्यवान होता है। गुरु-उपदेश और शास्त्र-स्वाध्याय का निमित्त प्राप्त होना भी अति महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्र-स्वाध्याय के लिए सद्ग्रन्थों की उपलब्धि आवश्यक है। हमारी संस्था सत्साहित्य के प्रकाशन में प्रारम्भ से ही रुचि ले रही है, और अनेकानेक साधन जुटाकर पाठकों को कम मूल्य में उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराने में प्रयत्नशील रही है। संस्था के प्राणसम आधार एवं चक्षु-सम मार्गदर्शक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज इस दिशा में बहुत ही जागरूक हैं। आपकी प्रेरणा व मार्गदर्शन में संस्था ने कुछ ही वर्षों में आशातीत प्रगति की है, और भविष्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन योजनाधीन हैं।

दो वर्ष पूर्व युवाचार्य श्री की भावना के अनुसार विदुषी श्रमणी रत्न महासती श्री उमरावकंवरजी महाराज ने आचार्य श्री हरिभद्र कृत योग ग्रन्थों का सम्पादन व संशोधन करवाया था। महासती जी के मार्गदर्शन में विद्वान डा० छगनलाल जी शास्त्री ने इन चारों ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन-विवेचन कर एक अनूठा कार्य किया है।

वर्तमान में योग के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। शान्ति, आनन्द और आरोग्य का मूल योग है, योग से ध्यान सिद्ध होता है, और योग व ध्यान की—अभ्यास-साधना से ही आज के संत्रासपूर्ण युग में मानव को शान्ति सुलभ हो सकती है। हमारी संस्था ने कुछ वर्ष पूर्व आचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया था जो काफी लोकप्रिय हुआ। योग के महान् आचार्य हरिभद्र की कृतियां प्रायः दुर्लभ थी। स्वाध्याय प्रेमी जन इनके लिए प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर पा रहे थे, अब युवाचार्य श्री तथा महासती उमरावकंवर जी एवं डा० छगनलाल जी के प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सम्पादन-श्रम से ये चारों दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो रहे हैं, इसके लिए हमें भी गौरव है।

'जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय' के प्रकाशन का निर्णय गत वर्ष नोखा चान्दावतों के चातुर्मास में लिया गया। नोखा चान्दावतों का यद्यपि एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम है, किंतु वहाँ के मूलनिवासी धनी-मानी धार्मिक व उद्यमी सज्जन बड़े ही उदार व उत्साही हैं। वि. सं. २०३७ का ऐतिहासिक वर्षावास नोखा में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में अनेक विशाल आयोजन व समारोह हुए। तपस्याएं हुईं। ज्ञान की सरिता बही। स्वधर्मि-वात्सल्य का अनूठा उदाहरण देखने को मिला। वहाँ के मूल निवासी तथा दक्षिण-प्रवासी श्रावकों ने जो उत्साह व उदारता दिखाई वह वास्तव में चिर स्मरणीय रहेगी। इस चातुर्मास में उपप्रवर्तक शासनसेवी स्थविरवर स्वामी श्री ब्रज लालजी महाराज, युवाचार्य प्रवर श्री मधुकर मुनि जी म० व्याख्यान वाचस्पति श्री नरेन्द्र मुनि जी, तपस्वीराज श्री अभय मुनि जी, युवा-कवि एवं गीतकार मुनि श्री विनयकुमार जी 'भीम' तथा विद्या विनोदी मौनसेवी श्री महेन्द्रमुनि जी 'दिनकर' आदि ठाणा ६ से विराजमान थे। तपस्वी श्री अभयमुनि जी ने मासखमण तप कर तपोमहिमा की, तो गुरुदेव श्री के प्रवचनों से प्रभावित समाज ने दान-शील-तप-भाव रूप धर्म की विशेष गरिमा बढ़ाई।

इस ग्रन्थ की संप्रेरिका विदुषीरत्न काश्मीरप्रचारिका महासती श्री उमरावकंवर जी 'अर्चना' तपस्विनी विदुषी स्वाध्याय रसिका सती श्री उम्मेदकंवर जी म. सती श्री कंचनकंवर जी म. सती श्री सेवावंती जी म. सतीश्री सुप्रभा जी म., सती श्री प्रतिभा जी म., सती श्री सुशीला जी म. एवं सती श्री उदितप्रभा जी म. आदि ठाणा आठ के ठाठ भी नोखा चातुर्मास की शोभा में चार चाँद लगारहे थे।

गुरुदेव श्री के चातुर्मास की खुशी में ही नोखा श्री संघ के सदस्यों ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारता पूर्वक सहयोग दिया। जिसकी सूची भी संलग्न है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण, संशोधन साज-सज्जा तथा श्लोकों की अकरादि अनुक्रमणिका, बनाने में साहित्य सेवी श्रीचन्दजी सुराणा का तथा श्री बृजमोहन जी जैन का सहयोग प्राप्त हुआ। हम सभी सहयोगी सज्जनों के प्रति हृदय से आभारी हैं, तथा पाठकों के शुभ-मंगल हेतु यह ग्रन्थ उनकी सेवा में प्रस्तुत है—

मंत्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

स्वाध्याय-ध्यान-योग साधना-निरत

विदुषी जैन श्रमणी

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

आशीर्वचन

भारतवर्ष की संस्कृति अत्यन्त व्यापक, उदार तथा विशाल है। यह वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्परा की त्रिवेणी के रूप में भिन्न-भिन्न मार्गों से बहती हुई भी समन्वय के संगम पर पहुँची। यह इसका अपना वैशिष्ट्य है। इन तीनों ही परम्पराओं द्वारा आविष्कृत विचार-दर्शन के सुधा-कणों से इसका सन्निर्माण हुआ। अतएव यह सर्वदा और सर्वथा सुधास्यन्दिनी रही और आज भी है।

इस संस्कृति के निर्मापक, परिपोषक तत्त्वदर्शन एवं वाङ्मय का गहन अध्ययन हो, इसमें मैं इसके समुन्नयन एवं विकास का बीज पाता हूँ। इस देश का साहित्य असीम विशालता और व्यापकता लिए हुए है, जो संस्कृति के प्रकृष्ट प्राण-प्रतिष्ठापक रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है। इस प्रसंग में मैं संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों, अनुसन्धित्सुओं तथा साहित्यिकों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, वे अपने तुलनात्मक अध्ययन, अनुशीलन के सन्दर्भ में जैन वाङ्मय का विशेष रूप से पर्यवेक्षण करें। सामष्टिक अध्ययन से चिन्तन की परिपक्वता निष्पन्न होती है।

जैन आचार्यों, विद्वानों, लेखकों तथा कवियों ने ऐसा पुष्कल साहित्य रचा, जिसने भारतीय संस्कृति तथा जीवन-दर्शन के विकास एवं संवर्द्धन में बहुत बड़ा योगदान किया। उनमें एक अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान तथा महान् ग्रन्थकार थे—याकिनी महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि, जिनका समय ई० सन् ७००—७७० माना जाता है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में अनेक ग्रन्थ रचे। योग पर भी उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत पुस्तक के रूप में उपस्थापित हैं।

योग एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज योग को लेकर देश-विदेश में अनेक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। योग क्या है, जीवन में उससे क्या सधना चाहिए—इसे यथावत् रूप में समझने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। जैनयोग ग्रन्थों में—विशेषतः इन ग्रन्थों में इन विषयों पर बड़ा मार्मिक तथा तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। अतएव इनके पठन-पाठन की अपनी विशेष उपयोगिता है।

मुझे यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि आयुष्मती, अन्तेवासिनी, परम विदुषी, कुशलयोग-साधनानुरता, स्वाध्याय-ध्यान-प्रवणा, सरलचेता महासती श्री उमरावकुंवर जी 'अर्चना' के कुशल मार्गदर्शन तथा निष्ठापूर्ण संयोजन में भारतीय वाङ्‌मय, जैन दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि प्राच्य भाषाओं के विद्वान डॉ० छगनलाल जी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० ने उक्त चारों ग्रन्थों को संपादित, अनूदित, विविक्त कर वास्तव में जैन साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे अपने युग के परम प्रज्ञाशील उद्‌भट मनीषी तथा समन्वयवादी महान् चिन्तक द्वारा रचित इतना उपादेय एवं उपयोगी साहित्य राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्राप्त न हो, सचमुच यह बड़ी अखरने वाली कमी थी। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा यह अभाव सम्यक् रूप में पूरा हो रहा है, जो स्तुत्य है।

महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना' एवं विद्वद्वर डा० छगनलाल जी शास्त्री के इस सत्प्रयास को मैं हृदय से वर्धापना करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि उन द्वारा श्रुत-सेवा के और भी अनेक सुन्दर कार्य सुसम्पन्न हों।

जिज्ञासु, मुमुक्षु तथा अनुसन्धित्सु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—युवाचार्य मधुकर मुनि

नोखा चांदावतों का
(राजस्थान)
१२-११-८१

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय में

उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

☐ श्रीमान् धर्म परायण एवं उदारमना प्रसन्नचन्दजी सा. चोरड़िया सुपुत्र—श्रीमान रतनचन्दजी सा. चोरड़िया मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमान् बालचन्दजी सा. वैद तथा श्रीमती सौ. रतनाबाई, उदारचित्त एवं अल्पभाषी, मूल निवासी [illegible], व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमान् बादलचन्दजी सा. चोरड़िया, [illegible] सुपुत्र श्री समरथमलजी सा. चोरड़िया, मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमान् शांतिलालजी उत्तमचन्दजी सा. चोरड़िया, सुपुत्र श्री ऋषभचन्दजी सा. चोरड़िया, धर्मप्रेमी मूल निवासस्थान नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमान् पारसमलजी सा. चोरड़िया, सुपुत्र श्री ताराचन्दजी सा. चोरड़िया, अति नम्र सुन्दर एवं उदारमना, मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ दानवीर श्रीमान् फतेहचन्दजी सा. डुगड़, मूल निवास कुचेरा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमती सौ. भँवरीबाई, धर्मपत्नी दानवीर सेठ खींवराजजी सा. चोरड़िया, उदारमना, प्रमुख समाज सेवी, धर्म प्रेमी; मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में।

☐ श्रीमती सौ. मोहनबाई गोठी, धर्मपत्नी श्रीमान् मोहनलालजी गोठी निवासी-महामन्दिर (जोधपुर)

☐ श्रीमती सौ. इन्दरबाई, धर्मपत्नी श्रीमान् तेजराजजी सा. भण्डारी गुरुभक्ति विशेष, महामन्दिर (जोधपुर)

☐ श्रीमती सौ. चाँदकुँवरबाई, कुचेरा निवासी श्रीमान् उदारमना मांगीलालजी सा. सुराणा, व्यवसाय बोलारम (सिकंदराबाद)

उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

☐ श्रीयुत जड़ावमल जी गुगनचन्द जी चोरड़िया। मूल निवासी—नोखा चांदावतों का, व्यवसाय—मद्रास। उदारमना, सरलवृत्ति तथा श्रद्धालु गुरुभक्त।

☐ श्रीयुत विजयराज जी रिखबचन्द जी कांकरिया। मूल निवासी—हरसोलाव, व्यवसाय—विल्लीपुरम्, १०६, कामराज स्ट्रीट, विलीपुरम्। उदारचेता, गुरुभक्त।

☐ श्रीमान पुखराज जी बाफना। मूल निवासी — हरसोलाव, जिला गोटन। व्यवसाय—मद्रास। स्वाध्याय प्रेमी; समाज सेवा में सक्रिय।

☐ श्रीमान सम्पतराज जी मुथा। मूल निवासी — मादलिया। व्यवसाय—मद्रास। धर्मप्रेमी, समाज सेवा में सक्रिय।

उक्त महानुभावों ने साहित्य प्रचार एवं धर्मानुराग से प्रेरित होकर पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान किया है। हमें विश्वास है भविष्य में भी इसी प्रकार आप महानुभावों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

—चांदमल चोपड़ा

मन्त्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राज०)

सम्पादकीय

ऊर्ध्वगमन आत्मा का सहज स्वभाव है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः परमात्मा का ही आवृत या आच्छन्न रूप है, वेदान्त की भाषा में जिसे अविद्या, माया तथा आर्हत दर्शन की भाषा में कर्मावरण से आप्लुत कहा गया है। अविद्या, माया अथवा कर्मों के आवरण का अपगम आत्मा के शुद्ध स्वरूप या परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में जीव अपने अपरिसीम पुरुषार्थ द्वारा अपने यथार्थ रूप-परमात्म-भाव को उद्घाटित, व्यक्त या अधिगत करने में समर्थ हो जाता है। बहिरात्म-भाव से अन्तरात्मभाव की ओर गति करता हुआ जिस दिन वह परमात्मभाव में लीन हो जाता है, निःसन्देह उसके लिए वह एक स्वर्णिम दिन या परम सौभाग्य की वेला होती है। सूफी संतों ने आत्मा के परमात्मभाव अधिगत करने के प्रेमात्मक उपक्रम-तीव्रतम उत्कण्ठा को आशिक और माशूका के रूपक द्वारा व्याख्यात किया है। कबीर आदि निर्गुणमार्गी सन्तों ने अपने को राम की बहुरिया बताते हुए इसी आध्यात्मिक प्रेम को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वास्तव में भारत ही वह देश है, जहाँ जीवन के इस गहनतम विषय पर विविध रूप में चिन्तन की धाराएँ प्रवाहित हैं। यहाँ की प्रज्ञा ने केवल भौतिक किंवा मांसल उपलब्धि में ही जीवन की सार्थकता नहीं मानी। इतना ही नहीं, इस ओर के उद्वेग को उसने दुर्बलता तक कहा।

आत्मा की इस ऊर्ध्वगामिता के केन्द्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान चित्त का है। चित्त की वृत्तियाँ ही मनुष्य को न जाने कहाँ से कहाँ भटका देती हैं। इसलिए ऊर्ध्वगमन की यात्रा में चित्तवृत्तियों की उच्छृंखलता को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है, योग की भाषा में जिसे चित्तवृत्ति-निरोध कहा गया है।[1] निरोध शब्द यहाँ विशेषतः एकाग्रता के अर्थ में है। विधायक और निषेधक दोनों पक्ष इसमें समाविष्ट हैं। परिष्कार और परिमार्जन, संशोधन और विशोधन के माध्यम से यह निरोध की आन्तरिक चेतनामयी गति चरमोत्कर्ष प्राप्त करती है।

भारत का यह सौभाग्य है कि यहाँ की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने चिन्तकों, मनीषियों और ऋषियों तथा ज्ञानियों के रूप में ऐसे-ऐसे नर-रत्न जगत् को दिये, जिनके ज्ञान, चिन्तन एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से मानव जाति ने अन्तर्जागृति के रूप में एक अभिनव आलोक प्राप्त किया। सामष्टिक रूप में हम इस सारी परम्परा को योग या अध्यात्म-योग के नाम से अभिहित कर सकते हैं। वास्तव में योग का क्षेत्र

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —पातंजल योगसूत्र १·२

बडा व्यापक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से यह निश्चय ही अछूता है। योग की दीप्ति सचमुच धूमिल हो जाती है, जब हम उसे साम्प्रदायिकता में बाँध लेते हैं। हाँ, विधि-क्रम, साधना-पद्धति आदि में विविधता हो सकती है, जो साम्प्रदायिकता नहीं है। वह तो यौगिक तत्त्वों की विराट्ता की द्योतक है।

भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र का इतिहास इसका साक्ष्य है कि समय-समय पर हमारी इस भूमि में अनेक योगी उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति और अनुभूति द्वारा जगत को बहुत दिया। वैदिक परम्परा के महर्षि पतंजलि, व्यास, गोरक्ष तथा श्रमण-परम्परा के आचार्य हरिभद्र, नागार्जुन, सरोजवज्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, योगीन्दु आदि के नाम बडे आदर से लिये जा सकते हैं, जिनका साहित्य अत्यन्त प्रेरक एवं उद्बोधक है। वे केवल शब्द-शिल्पी ही नहीं थे, वरन् कर्म-शिल्पी तथा भाव-शिल्पी भी थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा, अनुभूतियों की अतल गहराइयों में डुबकियाँ लगाकर लिखा, भारतीय वाङ्मय की वह एक ऐसी अमूल्य निधि है, जो कभी पुरानी या अनुपयोगी नहीं हो सकती। विवेकपूर्वक इस साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए।

मानव स्वभावतः नवीनता प्रेमी है। समय-समय पर विविध नवीनताओं के प्रवाह में बहता रहता है, आज की भाषा में जिसे फैशन कहा जा सकता है। पाठक अन्यथा न मानें, आज योग भी कुछ ऐसी ही स्थिति में से गुजर रहा है। योग (के बाह्य अंगों) का एक वेत्ता, अभ्यासी, शिक्षक, जन-साधारण को आश्चर्य लगने वाले कठिन आंगिक उपक्रम दिखाने में, सूक्ष्म प्राणायाम के विधि-विधानों में निष्णात एक योगी-शब्द-वाच्य पुरुष यदि अत्यन्त दुर्बल चित्तवृत्ति का पाया जाए, बाहर से सधते से लगने वाले योग के साथ जिसके भीतर भोग की दुर्दम ज्वाला जलती रहे, क्या वहाँ योग सधता है? कदापि नहीं। दुःख है, आज हमारे देश में यत्र-तत्र ऐसी परिस्थितियाँ भी पोषण पा रही हैं। योग की परम्परा पर निश्चय ही ये वे काले धब्बे हैं, जिनके संयोजक एक पवित्र परम्परा के साथ कितना जघन्य खिलवाड़ कर रहे हैं, कुछ कहने-सुनने की बात नहीं। अभ्यास के कारण देह द्वारा कुछ अद्‌भुत करिश्मे दिखा देना योग नहीं है। वैसे तो पेट पालने के प्रयत्न में बहुत से नट व मदारी भी करते रहते हैं। योग तो आन्तर साम्राज्य पर अधिकार पाने का वह पवित्र राजपथ है, जहाँ से अन्तर्विकार दस्युओं और तस्करों की तरह भाग जाते हैं। पर यह सधता तब है, जब हमारा विवेक का नेत्र उद्‌बुद्ध हो। हम केवल अयथावत् परंपरित रूढ़ि के रूप में इसका शिक्षण प्राप्त न कर सम्यक् बोध, विवेक तथा तदनुरूप लक्ष्य को आत्मसात् करते हुए इस में अग्रसर हों। आज तो स्थिति यह हो गई है कि मूल लक्ष्य गौण हो गया है और साधनों ने प्रधानता ले ली है। आसन, प्राणायाम आदि बाह्य योगांगों को अनुपादेय नहीं माना जा सकता किन्तु उनकी सही उपयोगिता सध पाये, उसके लिए सही मनोभूमि के निर्माण की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के साथ हमारा अध्यवसाय गतिमान् हो।

इस सन्दर्भ में हमारा चिन्तन है कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं के उन तत्त्व-द्रष्टाओं का वह साहित्य समीक्षा, अनुसन्धान तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ प्रकाश में आए, जिनसे जिज्ञासुओं को योग के सन्दर्भ में सही दिशा प्राप्त हो सके। जैसा पहले संकेत किया गया है, योग साम्प्रदायिक प्राचीरों से सर्वथा मुक्त है। यहाँ जो बौद्ध, वैदिक एवं जैन प्रभृति नामों का उल्लेख हुआ है, वह परम्परा-विशेष की ऐतिहासिकता के सूचन के दृष्टिकोण से है।

सामाजिक स्थितियों की शृंखलाएं कुछ इस प्रकार की रही हैं कि हम न चाहते हुए भी साम्प्रदायिक बन जाते हैं। फलतः जिस परम्परा से हम सम्बद्ध होते हैं, उसके अतिरिक्त इतर परम्परा के उच्चकोटि के महापुरुष तथा उन द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण उपयोगी साहित्य को अधीत और अधिगत करने की हमारे मन में ही नहीं आती अन्यथा योग वाङ्मय पर एक अद्भुत और अभिनव चिन्तन देने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि आदि मनीषी योग-जगत् के लिए क्या इतने अज्ञात या अल्प-ज्ञात रह पाते, जितने आज वे हैं। इतना ही क्यों आचार्य हरिभद्र जिस परम्परा के थे, आज उस परम्परा के लोग भी उनको अधिकांशतः यथार्थ रूप में नहीं जानते क्योंकि प्रायः हम बहिर्दृष्टा हो गये हैं, जो योग के अनुसार हमारी अधस्तन दशा है। योग तो अपने विस्मृत स्वरूप को स्वायत्त कर लेने की दिव्य यात्रा का प्रशस्त पथ है जिसे यथावत् रूप में समझने और अनुभूत करने का अर्थ है जीवन में उस शान्ति का प्रादुर्भाव, जिसके लिए क्या धनी, क्या सत्ताधीश, क्या जनसाधारण—सब लालायित हैं।

मैं भारतीय दर्शन, वाङ्मय तथा प्राच्य भाषाओं का अध्येता रहा हूँ। इनके परिशीलन, मनन तथा अनुसन्धान में जीवन का दीर्घकाल मैंने लगाया है, जिसे मैं अपने जीवन की आंशिक ही सही, सार्थकता मानता हूँ। अपने अध्ययन, अन्वेषण के सन्दर्भ में जब मैं उद्भट मनीषी, महान् ग्रन्थकार स्वनामधन्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के ज्ञान-विज्ञानोद्भासित व्यक्तित्व के संपर्क में आया, इस महान् सारस्वत-पुत्र से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे जीवन-वैभव को लेकर उद्भासित हुए, जो अनेक दृष्टियों से अनुपम था, अद्भुत था। भारतवर्ष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं को निकट से देखने, परखने, समझने का सौभाग्य उन्हें विशेषरूप से प्राप्त हुआ। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था। चित्रकूट या चितौड़ के राजपुरोहित के पद पर वे आसीन रहे। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, व्याकरण, न्याय आदि अनेक विषयों के वे पारगामी विद्वान थे। प्रगाढ़ विद्वत्ता के साथ-साथ सरल, निष्कपट और निर्दम्भ व्यक्तित्व के वे धनी थे। एक विशेष घटना के सन्दर्भ में उन्हें जैन धर्म के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसने उन महान् प्रज्ञा-पुरुष का जीवन ही बदल दिया। उनकी आस्था जैन दर्शन और धर्म के साथ सम्पृक्त हो गई। जब ज्ञान

अन्तर्मुखी हो जाता है तो वह काया पलट कर देता है। आचार्य हरिभद्र के साथ ऐसा ही हुआ। उन्होंने परम-त्यागमय श्रमण-जीवन के स्वीकार में विलम्ब नहीं किया। तत्काल श्रमण-प्रव्रज्या अंगीकार कर उन्होंने जैन आगम, दर्शन, न्याय तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य शास्त्रों का अहर्निश परिशीलन किया। क्षयोपशमजनित प्रतिभा का सुयोग उन्हें प्राप्त था ही, श्रम के साहचर्य से प्रतिभा फल-निष्पत्ति लाने में कितनी सफल होती है, आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन से यह स्पष्ट है। थोड़े ही समय में उन्होंने जैन विद्या की अनेक शाखाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके अध्ययन, चिन्तन से जिज्ञासु तथा मुमुक्षुजन लाभान्वित हों, उस हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की; जो आगम-व्याख्या, धर्म, दर्शन, कथाकृति आदि अनेक रूपों मे प्रकाश में आए। जैन वाङ्मय के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, असाधारण देन उन्होंने और दी। वह है उनका जैनयोग सम्बन्धी साहित्य।

भारत के साधना-क्षेत्र मे उस समय योग का विशेष प्रचलन था। योग के सन्दर्भ मे बहुमुखी चिन्तन प्रकाश मे आ रहा था, ग्रन्थ-रचनाएँ हो रही थीं। एक ओर शैवयोगी, नाथयोगी, हठयोगी अपने-अपने साधना क्षेत्र मे प्रवृत्त थे तथा दूसरी ओर सहजयान या वज्रयान का अपना योगक्रम चल रहा था, जिसे सहजयानी सिद्धयोगी अपनी दृष्टि मे विकसित कर रहे थे। यह सब देख परम प्रबुद्ध मनीषी, अनेक शास्त्र निष्णात, परमोच्च साधक आचार्य हरिभद्र सूरि के मन ,में संभवतः एक ऐसी सस्फुरणा हुई हो कि जैन-साधना पद्धति को भी जैन योग के रूप में अभिनव विधा के साथ प्रस्तुत किया जाए। उसी का फल है, उन्होंने जैन योग पर योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविंशिका नामक चार ग्रन्थ लिखे। उनमे पहले दो सस्कृत में है तथा अन्तिम दो प्राकृत मे। इनके अतिरिक्त शास्त्रवार्तासमुच्चय, षोडशक, अष्टक आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों में भी उन्होंने यथाप्रसग योग की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र महान् विद्वान् होने के साथ-साथ महान् अध्यात्मयोगी भी थे। इसलिए उनके जीवन के कण-कण में योग मानो अनुस्यूत था। उन्हें योग में बड़ी निष्ठा थी, जो उनके निम्नांकित शब्दों से प्रकट होती है.—

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—ससार मे बार-बार जन्म-मरण मे आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है.। योगी कभी वृद्ध नही होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर

देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है।

योगरूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते है, कुण्ठित हो जाते हैं—योगरूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग मे गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।[1]

भारतीय दर्शनों मे जैन दर्शन तथा जैनदर्शन मे जैनयोग मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय है। जैनयोग के सन्दर्भ मे मैंने उन सभी ग्रन्थों का पारायण किया है, जो मुझे उपलब्ध हो सके। मैं इस सम्बन्ध मे आचार्य हरिभद्र से अत्यधिक प्रभावित हूँ। उन्होंने जो भी लिखा है, वह मौलिक है, गहन अध्ययन, चिन्तन पर आधृत है।

पिछले कुछ वर्षों से मेरे मन में यह भाव था कि आचार्य हरिभद्र के इन चारो योग ग्रन्थों पर मैं कार्य करूँ। हिन्दी-जगत् को अधुनातन शैली में सुसम्पादित तथा अनूदित रूप मे ये ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। अच्छा हो, इस कमी की पूर्ति हो सके। इसके लिए मुझे उत्तम मार्ग-दर्शन तथा संयोजन चाहिए था। किसके समक्ष यह प्रस्ताव रखूँ, यह सूझ नहीं पड़ रहा था। क्योंकि आज अध्यात्म तथा योग के नाम पर जो कार्य चल रहे हैं, वे यथार्थमूलक कम तथा प्रशस्ति एवं प्रचारमूलक अधिक हैं। उन तथाकथित योग-प्रवर्तकों को, आचार्यों को अपना-अपना नाम चाहिए, विश्रुति चाहिए, प्रचार चाहिए, जो उनके लिए प्राथमिक है। खैर, जैसी भी स्थिति है, कौन क्या कर

१ योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः॥
तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः॥
कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि॥
अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः॥
मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्या मलिनात्मनः॥ —योगबिन्दु ३६–४१

सकता है। अतः इनके झझट मे न पड़कर जितनी जिसकी शक्ति हो, अपना कार्य करते रहना चाहिए।

लगभग नौ दस महीने पूर्व की घटना है, मैं एक साहित्यिक कार्य के सन्दर्भ मे वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण सघ के युवाचार्य, बहुश्रुत मनीषी, पंडितरत्न श्री मधुकर मुनि जी म० सा० से भेट करने नागौर गया था। इस समय प्रौढ़ विदुषी, परम अध्यात्मराधिका महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० 'अर्चना' भी साध्वी-समुदाय सहित वहाँ विराजित थीं।

पिछले पाँच छः वर्षों से मैं श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० सा० के सपर्क मे हूं। सुयोग्य विद्वान्, प्रबुद्ध आगम-वेत्ता तथा प्रौढ़ लेखक होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है—उनकी सहज ऋजुता, कोमलता तथा मधुरता। न उन्हें अपने ज्ञान का दम्भ है, न पद का अभिमान। उनके स्वभाव मे जो अनिर्वचनीय सरलता का दर्शन होता है, वह उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक आकर्षक गुण है। वे स्वय विद्वान् हैं, अतएव विद्या की गरिमा जानते हैं, विद्या का और विद्वान् का सम्मान करते है, उन्हें स्नेह देते है। यही कारण है, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। उनके सान्निध्य में चल रहे आगम-प्रकाशन के कार्य मे भी मेरा भाग है तथा उनके दूसरे साहित्यिक कार्य में भी मेरा यत्किञ्चित् साहचर्य है।

अस्तु, युवाचार्य श्री ने अगले दिन सबेरे नागौर से प्रस्थान किया। अगला पड़ाव एक छोटे से गाँव मे था। मैं भी पैदल ही उनके साथ गया। दिन भर मैं उनकी सन्निधि में रहा। अपराह्न मे जब युवाचार्य श्री से वापस लौटने की अनुमति लेने लगा तो उन्होंने विशेष रूप से कहा कि नागौर में महासती जी श्री उमरावकुंवर जी से मिलियेगा। मैं शाम को नागौर लौट आया। नृसिंह सरोवर पर रुका था, रात्रि प्रवास वहीं किया। महासती जी से भेट करने के सम्बन्ध में प्रातः सोच ही रहा था, मैं नहीं जानता, ऐसा क्यों हुआ, पर हुआ—योग वाङ्मय के अपने अध्ययन के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के उस संस्करण की ओर सहसा मेरा ध्यान गया, जिसे मैंने पढ़ा था, जिसके सम्पादन, प्रकाशन आदि मे महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० का सबसे बड़ा योगदान रहा था। महासती जी के जीवन का अध्यात्म-संपृक्त योग-पक्ष सहसा मेरे अन्तर्नेत्रों से गुजर गया, जिसमें मुझे साधना की दिव्यता दृष्टिगोचर हुई। महासतीजी का मैं पहली बार दर्शन करने नहीं जा रहा था। अब से तीन चार वर्ष पूर्व जब मेड़ता गया था तो अपने स्नेही मित्र श्रीयुक्त जतनराज जी मेहता के साथ पहले पहल उनके दर्शन करने तथा उनसे ज्ञान-चर्चा करने का प्रसंग प्राप्त हुआ था। उसके बाद भी सौभाग्यवश कई बार वैसा अवसर मिलता रहा। उन सबका एक समवेत प्रभाव मेरे मानस पर यह था कि जैन योग मे पूजनीया महासती जी की अनन्य अभिरुचि है तथा असाधारण अधिकार भी।

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि उनकी सेवा में अपनी भावना उपस्थित करूँ। तदनुसार वहाँ पहुँचा और यह अनुरोध किया कि यदि उनका मार्गदर्शन तथा संयोजन प्राप्त होता रहे तो प्रकाण्ड विद्वान, महान् योगी आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थ हिन्दी जगत् की सेवा में प्रस्तुत किये जा सकें। उत्तर में महासतीजी के जो प्रेरक उद्‌गार मुझे प्राप्त हुए, मैं हर्ष-विभोर हो गया। उनकी स्वीकृति प्राप्त कर मैंने अपने को धन्य माना। एक परमोदात्त संयमशील पवित्रात्मा की सत्प्रेरणा का संबल लेकर मैं अपने स्थान—सरदारशहर लौट आया तथा अपने को सर्वतोभावेन इस कार्य में लगा दिया। इस बीच कार्य उत्तरोत्तर गति पकड़ता गया। उस सन्दर्भ में मार्ग-दर्शन प्राप्त करने हेतु महासतीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होने के अवसर मिलते रहे। ज्यों-ज्यों मैं उनकी आध्यात्मिक सन्निधि में आता गया, मुझे उनके व्यक्तित्व की वे असाधारण विशेषताएँ अधिगत होने लगीं जिन्हें साधारण चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्र योगी तथा निष्पन्नयोगी के रूप में योग-साधकों के जो चार भेद किये हैं, परमश्रद्धेया महासतीजी की गणना मैं कुलयोगियों में करता हूँ। आचार्य हरिभद्र के अनुसार कुलयोगी वे होते हैं जिन्हें जन्म से ही योग के संस्कार प्राप्त होते हैं, जो समय पाकर स्वयं उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, व्यक्ति योग-साधना में सहज रस की अनुभूति करने लगता है। जो योगी अपने पिछले जन्म में अपनी योग-साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते, बीच में ही आयुष्य पूरा कर जाते है, आगे वे उन संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं। अतएव उनमें स्वयं योग-चेतना जागरित हो जाती है। कुलयोगी शब्द यहाँ कुल परम्परा या वंश-परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि योगियों का वैसा कोई कुल या वंश नहीं होता पर महासतीजी के साथ इस शब्द से नहीं निकलने वाला यह तथ्य भी घटित हो जाता है, ऐसा एक विचित्र संयोग उनके साथ है। महासतीजी के पूज्य पितृचरण भी एक संस्कारनिष्ठ योगी थे। घर में रहते हुए भी वे आसक्ति और वासना से ऊपर उठकर साधनारत रहते थे। यों आनुवंशिक या पैतृक दृष्टि से भी महासतीजी को योग प्राप्त रहा। इस प्रकार कुलयोगी का प्रायः अन्यत्र अघटमान अर्थ भी पूजनीया महासतीजी के जीवन में सर्वथा घटित होता है। ऐसे व्यक्तित्व के संदर्शन तथा सान्निध्य से सत्त्वोन्मुख अन्त:प्रेरणा जागरित हो, यह स्वाभाविक ही है। न यह अतिरंजन है और न प्रशस्ति ही, जब भी मैं महासतीजी के दर्शन करता हूँ, कुछ ऐसा अध्यात्म-संपृक्त पवित्र वात्सल्य प्राप्त करता हूँ, जिससे मुझे अपने जीवन की रिक्तता में आपूर्ति का अनुभव होता है। मैं इसे अपना पुण्योदय ही मानता हूँ कि मुझे इस साहित्यिक कार्य के निमित्त से समादरणीया महासतीजी का इतना नैकट्य प्राप्त हो सका।

महासतीजी के जीवन के सम्बन्ध में गहराई से परिशीलन कर जैसा मैंने पाया, निश्चय ही वह पवित्र उत्क्रान्तिमय जीवन रहा है। एक सम्पन्न, सम्भ्रान्त परिवार

मे उन्होंने जन्म पाया। केवल वे सात दिन की थी, तभी मातृवियोग हो गया। देव-दुर्लभ मातृ-वात्सल्य से विधि ने उन्हे सदा के लिए वञ्चित कर दिया। पिता की स्नेहमयी गोद में उनका लालन-पालन हुआ। मातृत्व एवं पितृत्व के दुहरे स्नेह का केन्द्र केवल उनके पितृचरण थे, जिन्होंने अपने अन्तरतम की स्निग्धता मे उसे फलवत्ता देने मे कोई कसर नहीं रखी। पिता की छत्रच्छाया में परिपोषण, संवर्धन प्राप्त करते हुए ज्यों ही उन्होंने अपना ग्यारहवा वर्ष पूरा कर बारहवें मे प्रवेश किया, केवल थोड़े से समय बाद (साढ़े ग्यारह वर्ष की अवस्था मे) वे परिणय-सूत्र में आबद्ध कर दी गईं। विधि की कैसी विडम्बना थी, अभी गौना भी नही हो पाया था, मात्र दो वर्ष बाद उनके पतिदेव दिवगत हो गये। वह एक ऐसा भीषण दुःसह वज्रपात था, जिसकी कोई कल्पना तक नहीं की जा सकती। पर विधि-विधान के आगे किसका क्या वश! फूल सी कोमल बालिका यह समझ तक न सकी, क्या से क्या हो गया। सारे परिवार में अपरिसीम शोक व्याप्त हो गया। हिमाद्रि जैसे सुदृढ़ एवं सबल हृदय के धनी पिता भी सहसा विचलित से हो गये।

यह वह स्थिति थी, जिसमें जीवन भर रोने-बिलखने के अतिरिक्त और कुछ बाकी रह नही पाता। पर यह सामान्य जनो की बात है। महासतीजी तो विपुल सत्त्वसभृत संस्कारवत्ता के साथ जन्मी थी, उनके चिन्तन ने एक नया मोड़ लिया, जो उन जैसी बोधि-निष्पन्न आत्माओं को लेना ही होता है। उन्होंने अपने जीवन की दिशा ही बदल दी। उनके मन में निर्वेद का जो बीज सुषुप्तावस्था मे था, अंकुरित हो उठा और थोडे ही समय मे वह पल्लवित एवं पुष्पित पादप के रूप मे विकसित हो गया। जैसा मैंने ऊपर उल्लेख किया है, महासतीजी के पितृचरण एक दिव्य संस्कारी वीर पुरुष थे। उनका लौकिक जीवन साहस, शौर्य और पराक्रम का जीवित प्रतीक था। क्षयोपशमवश कुछ ऐसी दिव्यता उन्हे जन्म से ही प्राप्त थी कि साधारण उदरभरि और भोगोपभोगी मनुष्य के रूप में वे जीवन की इतिश्री कर देना नही चाहते थे। बाह्य अध्ययन विशेष न होते हुए भी उनकी आभ्यन्तर चेतना उद्‌बुद्ध थी, जो जन्म के साथ ही आती है। पिता और पुत्री के परम पवित्र अन्तर्भाव की फल निष्पत्ति श्रमण-प्रव्रज्या में हुई। उद्‌बुद्धचेता, सात्त्विक जन, जब अन्तरात्मा जाग उठती है, तब फिर विलम्ब क्यों करें। उक्त विषम, दुःखद घटना के लगभग वर्ष भर बाद उन्होंने (पिता पुत्री ने) परम पूज्य स्व० आचार्य श्री जयमल्लजी म० सा० से आम्नायानुगत तत्कालीन श्रमण संघीय मारवाड प्रान्त मन्त्री पूज्य स्वामीजी श्री हजारीमल जी म० सा० तथा बालब्रह्मचारिणी महासती श्री सरदारकुंवर जी म० सा० की संनिधि मे श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली।

बड़ा आश्चर्य है, इस भोगसकुल जीवन मे यह कैसे सध जाता है, जहाँ मौत की *अन्तिम सांसें गिनता हुआ मनुष्य भी मन से भोगों को नहीं छोड़ पाता!* मृत्यु मस्तक पर मंडराती है पर उस समय भी क्षुद्र सांसारिक सुखमय, वासनामय मनःस्थिति में

आवद्ध रहता है। कितनी दयनीय स्थिति है यह ! वह जीना चाहता है, फिर छककर भोगों को भोग लेना चाहता है। इन स्थितियों के साथ-साथ है तो विरल पर एक और स्थिति भी है, जहाँ भोग विषवत् त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं। क्या कारण है, यह स्थिति सब में नहीं आती, किन्हीं किन्हों— बहुत थोड़े से लाखों में एक दो व्यक्तियों में प्रस्फुटित होती है। संस्कारवत्ता तो है ही, मनोविज्ञान एक और समाधान देता है। उसके अनुसार काम वासना, भोग आदि मनुष्यों की निसर्गज वृत्तियाँ हैं जिनमें वह अनुपम सुख की मान्यता लिये रहता है। इसलिए तीव्रतम उत्कण्ठा के रूप में उसकी निष्ठा उनसे जुड़ी रहती है। पर यह अपरिवर्त्य नहीं है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के जीवन में किसी घटना-विशेष से या विशिष्ट ज्ञान के उद्भव से इसके विपरीत भी कुछ घटित होता है। इच्छा की तीव्रता तो नहीं मिटती पर इच्छा जिस पर टिकी होती है, वह लक्ष्य बदल जाता है, भोग के स्थान पर वैराग्य, साधना, ज्ञान, कला या साहित्य समप्रतिष्ठ हो जाता है। परम उदग्र इच्छाशक्ति उनमें से किसी के साथ जुड़ जाती है। निश्चय ही तब फल निष्पत्ति में एक चमत्कार आता है। मनोविज्ञान की भाषा में यह दिक्-परिष्कार (Sublimation) कहा जाता है। वैसे व्यक्ति बहुत बड़े साधक, प्रखरज्ञानी, महान् साहित्यकार आदि होते हैं। अन्तर्वृत्ति में यों परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति को अपने स्वीकार्य और गन्तव्य पथ से कोई चलित नहीं कर सकता।

इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर यदि चिन्तन करें तो लगता है, पिता एवं पुत्री के साथ जो घटित हुआ, जिस दिव्य दिशा की ओर उनके कदम बढ़ चले, उनसे यही संभावित था। साधना की इस यात्रा में आगे जो कुछ हुआ, वह साक्ष्य है इस बात का, (जो पहले चर्चित हुई है) तीव्रतम इच्छाशक्ति का परिणाम शक्ति-स्फोट में आता है, जो जीवन को असाधारण वैशिष्ट्य से समायुक्त कर देता है। पिता श्री मांगीलालजी, जो तब मुनि श्री मागीलालजी थे, सर्वतोभावेन प्राणपण से अध्यात्म-साधना में जुट गये। योगी के जीवन में सहजरूप में जो विभूतियाँ प्राकट्य पा लेती हैं, उनमें भी कुछ वैसी निष्पत्तियाँ हुईं। तभी तो यह संभव हो सका, उन्होंने छः महीने पूर्व ही अपने मरण का समय बता दिया था, जो ठीक उसी रूप में घटित हुआ।

ऐसे महान् पिता की पुत्री और महान् गुरु की शिष्या महासतीजी ने प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के बाद जहाँ एक ओर अपने को श्रुतोपासना में लगाया, दूसरी ओर योग साधना का वरेण्य क्रम भी उनके जीवन में चलता रहा। अनेक ज्ञानियों, साधकों तथा महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करने, उनसे सीखने, समझने का उन्हें सौभाग्य रहा, जिसका उन्होंने तन्मयता तथा लगन के साथ उपयोग किया, जो उनके वैदुष्य और साधना प्रवण जीवन में साक्षात् परिदृश्यमान है।

महासती जी एक जैन श्रमणी हैं, पाद-विहार, धर्म-प्रसार जिनके जीवन का अपरिहार्य भाग होता है। उन्होंने राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, उत्तर-

प्रदेश, हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों की पद-यात्राएँ कीं, जन-जन को भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से अनुप्राणित किया, आज भी कर रही हैं। उनकी दृढ़ता, साहस, उत्साह तथा निर्भीकता निःसन्देह स्तुत्य हैं, उन्होंने काश्मीर जैसे दुर्गम प्रदेश की भी यात्रा की. जो वास्तव में उनकी ऐतिहासिक यात्रा थी। शताब्दियों में संभवतः यह प्रथम अवसर था, जब एक जैन साध्वी ने काश्मीर-श्रीनगर तक की पद-यात्रा की हो। महासतीजी द्वारा अपने जीवन के संस्मरणों के रूप में लिखित 'हिम और आतप' नामक पुस्तक मैंने देखी। पुस्तक इतनी रोचक लगी कि मैंने एक ही बैठक में उसे आद्योपान्त पढ़ डाला। पुस्तक में उनकी काश्मीर-यात्रा के घटना क्रम, संस्मरण भी उनकी लेखिनी द्वारा शब्द बद्ध हुए हैं, जो निसन्देह बहुत ही प्रेरणाप्रद है। दुर्गम, विषम, सकड़े पहाड़ी मार्ग, तन्निकटवर्ती काल-सा-मुँह बाये सैकड़ों फुट गहरे खड्ड, नुकीली चट्टानें, उफनती नदियाँ, पिघलते ग्लेशियर, (Glacier) छनते बादल—अपरिसीम, अद्‌भुत प्राकृतिक सुषमा पर साथ ही साथ एक पदयात्री के लिए भीषण, विकराल, संकट परम्परा—महासतीजी ने यह सब देखा, अनुभूत किया। जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य ने उनके साहित्य हृदय को सात्त्विक भावों का दिव्य पाथेय दिया, वहाँ संकटापन्न, प्राणघातक परिस्थितियों ने उनके राजस्थानी वीर नारी सुलभ शौर्य को और अधिक प्रज्वलित तथा उद्दीप्त किया। किसी भी भयावह स्थिति में उनका धीरज विचलित नहीं हुआ। जिन्होंने गृही जीवन में शेरों तक को पछाड़ डाला तथा सन्यस्त जीवन में उसी अनुपात में आत्मशक्ति की विराट् ज्योति स्वायत्त की ऐसे महान् पिता की महान् पुत्री को भय कहाँ से होता? उन्होंने सानन्द, सोत्साह, सोल्लास अपनी काश्मीर यात्रा सपन्न की। वह प्रदेश, जो वर्तमान में भगवान् महावीर के आध्यात्मिक सन्देश के परिचय में कम आ पाया था, उन्हीं भगवान् महावीर के पद चिन्हों पर चलने वाली उन्हीं की परमोपासिका एक महिमामयी भारतीय नारी की योग-परिष्कृत कण्ठ-ध्वनि से निःसृत निनाद द्वारा पुनः मुखरित हो उठा।

अस्तु, महासतीजी ने जिस महान् ध्येय को लेकर अत्यन्त उत्साह, ओजस्विता और निष्ठा के साथ जिस अभिनव दिशा में प्रयाण किया, वे उस पर उसी अन्तःस्फूर्ति के साथ आज भी चलती आ रही हैं। यह सब इसलिए है कि योगानुभूति से जीवन में प्रशम-रस का वह निर्झर फूट पड़ता है, जिसमें साधनागत श्रम आनन्द बन जाता है।

यहां महासतीजी के सम्बन्ध में जो कुछ मेरी लेखिनी से उद्‌गीर्ण हुआ है, वह मेरे हृदय से संस्फुटित श्रद्धा-प्रसूत भावराशि है, जिसे शब्द रूप में बाँधने से मैं अपने को रोक नहीं सका। पर, मैं जहां तक समझता हूँ, यह अनुपयुक्त नहीं हुआ। इस महिमामयी नारी के साधनामय जीवन के ये ज्योति-स्फुलिंग, मुझे आशा है, पाठकों को दिव्य जीवन की प्रेरणा देंगे जो सबके लिये नितान्त वाञ्छनीय है।

यह व्यक्त करते मुझे अत्यन्त हर्ष है कि समादरणीया महासतीजी म० के सानुग्रह मार्गदर्शन तथा सयोजन मे, प्रातःस्मरणीय, महामहिम आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के योग-ग्रन्थ हिन्दी जगत् के समक्ष उपस्थापित करने का सौभाग्य पा रहा हूँ। आशा है, हिन्दीभाषी पाठक भारतभूमि के एक महान योगी, महान तत्त्वद्रष्टा, महान् ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त योगामृत का पान कर जीवन मे अभिनव धर्मचेतना एवं आत्मशान्ति का अनुभव करेंगे।

विजयदशमी, वि० सं० २०३८

कैवल्य धाम
सरदारशहर (राजस्थान)

—डॉ० छगनलाल शास्त्री
एम ए (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलाजी)
पी-एच. डी., काव्यतीर्थ,
विद्यामहोदधि
भू. पू. प्रवक्ता, इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत,
जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार)

प्रस्तावना

ज्ञान, चिन्तन तथा साधना के क्षेत्र में आर्यभूमि भारत के जिन महर्षियों, मनीषियों तथा विद्वानों ने अपने अनन्य सृजन द्वारा जो अभूतपूर्व कार्य किए, उनकी गरिमा सदा अमिट रहेगी। कराल काल के थपेड़ों से उनका महत्त्व कभी व्याहत नहीं हो सकेगा। वे उस परम दिव्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समुद्बोधक, सर्वतो गरीयान्, वरीयान्, महीयान् तत्त्व के पुरोधा और पुरस्कर्ता थे, जिस पर इस महान् राष्ट्र की अजर, अमर, अमल, धवल संस्कृति टिकी है। उन्ही महान् पुण्यात्मा, तप:पूत, शब्द तथा भाव के अनन्य शिल्पी महामानवों में एक थे आचार्य हरिभद्र सूरि (आठवीं शती ई०)। भारतीय वाङ्मय, तत्त्वदर्शन तथा साहित्य के क्षेत्र में इन्होंने जो योगदान किया, वह इतना उच्च, इतना दिव्य तथा इतना पावन है कि उसकी महत्ता शब्दों में नहीं कही जा सकती। काश! इस महान् सरस्वती-पुत्र पर शोध के सन्दर्भ में कुछ बड़ा साहित्यिक कार्य होता। किन्तु दुर्भाग्य है, जितना चाहिए, उतना अब तक हो नहीं सका है।

कितनी असाधारण प्रतिभा, सागरवत् गम्भीर अध्ययन तथा उर्वर चेतना के धनी थे वे महान् आचार्य। आगम, दर्शन, न्याय, योग तथा कथा आदि जितने विषयों पर, जिस सफलता के साथ उन्होंने लिखा, यह अतिशयोक्ति नहीं है कि वैसा लिखने वाले विद्वान् बहुत कम हुए। आचार्य हरिभद्र अनेक शास्त्रों में निष्णात, प्रखर पाण्डित्य के धनी, दुर्धर्ष विद्वान् थे। जब वे सांसारिक थे, तब लौकिक गरिमा, वैभव एवं समृद्धि का वैपुल्य उन्हें स्वायत्त था। किन्तु जब अप्रतिम त्याग तितिक्षामयी श्रमण-परम्परा में उनकी आस्था परिणत हुई, तब उन्होंने एक ऐसा वैभव, माहात्म्य अर्जित किया, जिसकी उच्चता तक भौतिक विभूतियाँ युग-युगान्तर में भी नहीं पहुँच सकतीं। आचार्य हरिभद्र का श्रमण-जीवन जहाँ एक ओर आचार-क्रान्ति का जाज्वल्यमान प्रतीक था, दूसरी ओर ज्ञान के क्षेत्र में उनके द्वारा जिस विपुल और महान् साहित्य का सृजन हुआ, वह सदा अजर, अमर रहेगा।

अन्यान्य विषयों को न लेकर अभी मैं एक विशेष बात पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा; जो उनके साहित्यिक कृतित्व से सम्बद्ध है। जिसकी मैं चर्चा करना चाहता हूँ, वह है जैन योग। आचार्य हरिभद्र वे प्रथम मनीषी थे, जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा जैन योग के सन्दर्भ में मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

आचार्य हरिभद्र मेरे अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं, विशेष रूप से उनकी योग-विषयक रचनाएँ। आज से २५ वर्ष पूर्व जब मैं प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में प्राकृत एवं जैनोलॉजी विषय में स्नातकोत्तर अध्ययन कर रहा था, उसी समय मुझे आचार्य हरिभद्र सूरि के योग-विषयक ग्रन्थों का आद्योपान्त गम्भीर अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। उससे भी वर्षों पूर्व लगभग बालपन में ही मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी कि मुक्ति, मोक्ष, परमात्म-पद की प्राप्ति अथवा स्वयं परमात्मा बनना, अथवा ब्रह्मलीनता अथवा भगवान् की प्राप्ति अथवा निर्वाण-अवस्था की प्राप्ति, जन्म-मरण के अनादि संसार चक्र से जीव की मुक्ति की, ये जितनी दशाएँ हैं, उन्हें प्राप्त करने का, क्या विश्व भर के सभी जीवों के लिए भक्ति, ज्ञान, कर्म या संन्यास का कोई एक ही मार्ग सुनिश्चित है, उसके सिवाय कोई गति नहीं है, और वैसा या वह मार्ग बताने वाला केवल एक ही धर्म सत्य है, शेष सब झूठे हैं? अथवा ईश्वर को या ईश्वरत्व को पाने के एकाधिक उपाय, मार्ग या धर्म हो सकते हैं, और सभी जीवों को अपनी-अपनी क्षमता एवं देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना मार्ग चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता व अधिकार है? ....इत्यादि रूप में मेरी गहन उत्सुकता और उत्कण्ठा थी।

आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाओं के अध्ययन ने मेरी उपर्युक्त जिज्ञासा को इस प्रकार शान्त किया कि सत्य या ईश्वर ऐसे कोई दुर्लंघ्य हिमालय नहीं, जिसकी चोटी पर पहुँचने का कोई एक और केवल एक मात्र मार्ग हो, वह भी किसी एक ही दिशा से। अपितु वह तो ऐसा सूर्य है, जिसकी किरणें एक केन्द्र से उत्स्यूत होकर असीम, असंख्य, अनन्त कोणों व मार्गों से अखिल विश्वमंडल में व्याप्त होती हैं, और विपरीत क्रम से उतने ही अनन्त, असंख्य, असीम कोणों व मार्गों से आकर उसी 'सत्य' रूपी सूर्य में विलीन हो जाती हैं। अतः धर्म भी न केवल अनेक, अपितु प्रत्येक जीव का अपना एक स्वतन्त्र धर्म हो सकता है और औपचारिक धर्म, तीर्थंकरों, अवतारों, पैगम्बरों, ऋषियों व सन्तों द्वारा प्रणीत धर्म, वे शृंखलाएँ नहीं हैं, जिनमें बाँधकर जीव-सृष्टि की श्रेष्ठ कृतियों, जिनमें श्रेष्ठतम है मनुष्य, (उसे) किसी अन्धकूप में फेंक दिया जाए, अपितु वे मार्गदर्शक स्तम्भ हैं, प्रकाश की वे किरणें हैं, वे हस्त-दण्ड हैं, जिन्हें पकड़कर जिनको देखकर मनुष्य अपने उस उच्चतम, महत्तम गन्तव्य को पा सकता है, जहाँ वह सर्वतन्त्र स्वतंत्र है, और जहाँ उसकी स्वयंभू सार्वभौम सत्ता है। संसार के सभी धर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में, अथवा जीवन के परम-सत्य की शोध में केवल उपाय भर हैं, साधन मात्र हैं साध्य नहीं, और इतनी ही धर्मों की सत्यता है, इतनी ही सार्थकता।

आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों से न केवल मानव धर्मों की ऐसी सारभूत एकता की बुद्धि उत्पन्न होती है, अपितु यह दृष्टि भी प्राप्त होती है कि मोक्ष से जोड़ने वाला सभी धर्म-व्यापार, सारे धार्मिक आचार-व्यवहार 'योग' हैं।

आध्यात्मिक-विकास की भूमियों का विवेचन जैन परम्परागत 'गुणस्थान क्रम' में स्वतंत्र मित्रा, तारा, प्रभा, परा प्रभृति आठ दृष्टियों में करके तथा पातञ्जल योग एवं बौद्ध योग की विकास भूमियों से उनका समन्वय करते हुए, पातञ्जल योग के यमनियमादि आठों अंगों का स्व-प्रणीत जैन योग साधना पद्धति में समाहार करके आचार्य हरिभद्र ने आठवीं शती ई० में योग-साधना का अभूतपूर्व सर्वांगीण और सार्व-जनीन पथ प्रशस्त किया। दुराग्रह का तो प्रश्न ही नहीं, उनकी योग-विषयक रचनाओं में साम्प्रदायिक आग्रह की गन्ध तक कहीं नहीं आ सकती।

आचार्य हरिभद्र की इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि योग और अध्यात्म जैसे दुर्बोध विषयों को, जिनमें सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार कहीं अधिक दुर्गम, दुर्बोध्य एवं असाध्य होता है, व इनमें सामंजस्य कठिन हो जाता है, तथा योग मार्ग की व्यावहारिक कठिनाइयों को इस प्रकार समझाया और सुलझाया है कि ज्ञानवान् और अज्ञानी, अल्पश्रुत और बहुश्रुत, सबल और निर्बल, हठयोगी व सहजयोगी, भक्तिमार्गी या ज्ञानमार्गी, और कर्मयोगी अथवा कर्म-संन्यासी—सभी प्रकार के साधक आध्यात्मिक-विकास के मार्ग पर सरलतापूर्वक चल सकते हैं। संक्षेप में उनके द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग केवल मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ मात्र नहीं अपितु अनादि-अनन्त भवसागर में हाथ पकड़कर, यान पर आरूढ़ करके साथ ले चलने वाले उस पारगामी नाविक के समान है, जो स्वयं तो पार जाता ही है अन्यों को भी पार करा देता है। और इस प्रकार आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ बोधिसत्त्व की उस प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाती है, जहाँ वह कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्॥

आचार्य हरिभद्र को जैसे स्वयं कुछ नहीं चाहिए, कोई आचार्यमुष्टि नहीं कोई रहस्य नहीं। उन्होंने जैसे शताब्दियों-सहस्राब्दियों के योगियों और मुमुक्षुओं के अनुभवों को अपनी इन रचनाओं में शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर जैसे खोल-खोल कर स्पष्ट करके रख दिया है। और यहीं पुनः याद आता है महाकारुणिक शास्ता गौतम बुद्ध का यह कथन—"*भिक्षुओ! मैंने कोई आचार्यमुष्टि (गुरु के हृदय में निहित रहस्य-मयता)* नहीं रखी, भीतर और बाहर कुछ भी न छिपाते हुए धर्म का उपदेश दिया है और जो मार्ग बतलाया है, वह ऐसा है, जिस पर चलकर आदमी जीते-जी निर्वाण प्राप्त करता है, जो काल से सीमित नहीं, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो, जो ऊपर उठाने वाला है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है।" (मज्झिमसंगहो भू. पृ० १३)। ऐसा ही मार्ग दिखाती हैं आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ।

इन रचनाओं का जब भी परिशीलन करता हूँ और इनकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाने का उद्यम करता हूँ तो आनन्द-विभोर हो उठता हूँ और नया प्राप्त

करता जाता हूँ, उस महामहिम प्रज्ञा धनी के प्रति श्रद्धावनत हो जाता हूँ। वर्षों से मेरी इच्छा रही है, आचार्य हरिभद्र पर मैं कुछ कार्य करूँ। इसे कर्मान्तराय ही कहूँगा कि हृदय से चाहने पर भी अब तक वैसा कुछ प्रस्तुत कर नहीं सका।

मुझे बहुत प्रसन्नता है, मेरे अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय विद्वान्, जो वर्षों मेरे साथ रहे है, जिनकी प्रतिभा और उद्यमशीलता का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ, सुहृद्वर डॉ छगनलाल जी शास्त्री, एम ए., पी-एच. डी. ने स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र को अपने अध्येय विषयों में स्वीकार किया।

मुझे यह व्यक्त करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है, कि श्री स्थानकवासी जैन समाज के बहुश्रुत युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी की सत्प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से, जैन जगत् की सुप्रसिद्ध विदुषी, महान् साधिका तथा कुशल लेखिका परमपूजनीया महासती श्री उमरावकुंवर जी म. 'अर्चना' के पावन पथ-दर्शन और संयोजन मे डॉ छगनलाल जी शास्त्री ने मेरे आराध्य, प्रातःस्मरणीय आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थो के सम्पादन, राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद तथा विवेचन का स्तुत्य कार्य किया है। इन ग्रन्थों का गुजराती एवं अंग्रेजी मे तो अनुवाद, विवेचना आदि हुआ है पर जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी मे इन चारों ग्रन्थों पर वैसा कुछ कार्य नही हुआ। योगविंशिका का बहुत पुरानी हिन्दी में एक अनुवाद देखने मे आया, यह भी आज उपलब्ध नहो है पर अन्य ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद, विवेचन दृष्टिगोचर नहो हुआ। मैं हृदय से आभार मानता हूँ, पूजनीया महासतीजी ने निःसन्देह ऐसे पवित्र कार्य हेतु देश के एक वरिष्ठ विद्वान् को प्रेरित किया, मार्ग-दर्शन दिया तथा कार्य को गति प्रदान की। डॉ शास्त्री जी को मैं हृदय से वर्धापित करता हूँ कि उन्होने हिन्दी जगत् के लिए वास्तव में यह बहुत बडा कार्य किया है। आचार्य हरिभद्र जैसे भारतीय साहित्य गगन के एक परम दिव्य तेजोमय नक्षत्र की यौगिक ज्ञानमयी दीप्ति से हिन्दी जगत् को परिचित कराने मे प्रस्तुत ग्रन्थ, जिसमें इन महान् आचार्य के योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविंशिका— इन चारो कृतियों का समावेश है, बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। जैसा मैंने ऊपर कहा है, आचार्य हरिभद्र ने योग पर अनेक दृष्टियों से मौलिक चिन्तन दिया है, जो वास्तव में अनन्य-साधारण है। योग के क्षेत्र में जिज्ञासाशील, साधनाशील, अनुसन्धानरत एवं अध्ययनरत पाठकों को अवश्य ही उससे लाभान्वित होना चाहिये। जिनको संस्कृत व प्राकृत का गहरा अध्ययन नही है, उन हिन्दी भाषी पाठकों के लिए अब तक ऐसा अवसर नही था। क्योकि आचार्य हरिभद्र के इन चार ग्रन्थो में दो संस्कृत में और दो प्राकृत में हैं।

हमारे देश में जैन विद्या (Jainology) के क्षेत्र में अनेक संस्थान कार्यरत हैं। कितना अच्छा हो, डॉ० शास्त्री जी जैसे प्राच्य भाषाओं तथा प्राच्य दर्शनों के गहन अध्येता विद्वानों का समुचित उपयोग करते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

आदि प्राच्य भाषाओं में प्रणीत जैन विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों पर ठोस कार्य कराएँ और उसे समस्त विद्वज्जगत् के लाभार्थ प्रकाशित करें। बड़ा दुःख है अभी संस्थाएँ भी संकीर्णता के दायरे से इतनी ऊँची नही उठ पाई हैं, जितना उठना चाहिए। तभी तो ऐसा हो रहा है कि विद्वानों का जितना जहाँ, जैसा उपयोग होना चाहिए, हो नहीं पाता।

पूजनीया महासती जी और समादरणीय विद्वत् साथी डॉ० शास्त्री जी का यह श्रुतसेवी प्रयास मुझे बहुत प्रीतिकर लग रहा है। मैं इसका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

डॉ० शास्त्री जी की संपादन शैली, अनुवादन-विवेचन शैली अपनी असामान्य विशेषताएँ लिये हुए है। वे हिन्दी के प्रबुद्ध लेखक हैं। संस्कृत या प्राकृत में सग्रथित मूल भाव को हिन्दी में जिस निपुणता तथा कौशल के साथ उपस्थापित करने में वे समर्थ है, वह सर्वथा स्तुत्य है। मैं आशा करूँगा, उनकी सशक्त, साधना-निष्णात लेखनी से और भी अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आयेंगे।

आशा है, पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा भारत के एक महान् आचार्य की महान् ज्ञानसंपदा से निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

सरस्वती-विहार, जबलपुर
कार्तिक पूर्णिमा, वि० सं० २०२८

—डॉ० विमल प्रकाश जैन एम० ए० (संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा जैनोलोजी), पी-एच० डी०
रीडर—संस्कृत—पालि—प्राकृत विभाग,
जबलपुर विश्वविद्यालय, (जबलपुर)

मंगल–भावना

योग मेरे जीवन का विषय है और मैं जानता हूँ कि इस विद्या का हमारी पुण्यभूमि भारत में जो विकास हुआ, वह सचमुच जगत् को उसकी अद्वितीय देन है। योग वह विद्या है, जो समय, स्थान आदि की सीमा में बँधी नहीं है। इस द्वारा ससीम आत्मा अपने असीम विराट् स्वरूप को अधिगत कर सत्-चित्-आनन्दमय बन जाती है। गगन-मण्डल में एक अलभ्य अतर्क्य और अभेद्य ज्ञान राशि परिव्याप्त है, वह अप्राप्य नहीं है। प्राप्य हो जाए तो व्यक्ति क्या से क्या बन जाए। उसकी प्राप्यता का मार्ग योग है। योगी विश्वगत ज्ञान को साधना-बल द्वारा अपने में उतार पाता है। स्वयं उसकी दिव्य रसानुभूति तो करता ही है, अखण्ड भूमण्डल को उससे लाभान्वित भी कर सकता है। यह जो मैं लिख रहा हूँ, केवल शास्त्र-ज्ञान के आधार पर नहीं, हिमाद्रि की गहन कन्दराओं में साधनारत योगियों में जो मैंने पाया और यत् किञ्चित् स्वयं भी अनुभूत किया, वह भी उसका एक आधार है।

मेरी भावना है, योग विद्या पर गहन अध्ययन हो, शोध-कार्य हो, अनुद्घाटित या विलुप्त सत्य उद्घाटित हों, इसके नाम पर चलती विडम्बनाएँ, प्रवञ्चनाएँ एवं छलनाएँ निरस्त हों। इसके लिये मैं यह परम आवश्यक समझता हूँ, हमारे ऋषि, महर्षियों ने, योगियों ने, आध्यात्मिक महापुरुषों ने जो सत्य शब्दबद्ध किया, उसे हम यथावत् समझें स्वायत्त करें। योगी परम्पराबद्ध नहीं होता, वह साधनाबद्ध होता है। इसलिये मेरी दृष्टि में पतंजलि, व्यास, गोरख, हरिभद्र, नागार्जुन, सरहप्पा, कण्हप्पा, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव, आनन्दघन आदि सभी योगिवर्य योगमणिमुक्ताग्रथित अमूल्य माला के मनोज्ञ मनके हैं। इनके विचारों की अनिर्वचनीय दीप्ति से हमें अपना अन्तर्तम उद्भासित करना है। इसके लिए यह नितान्त वाञ्छनीय है, इनका साहित्य हमें उपलब्ध हो। थोड़ा सा उपलब्ध है, बहुत सा अनुपलब्ध है, आज भी अप्रकाशित पड़ा है। कितना अच्छा हो, कोटि-कोटि भारतवासियों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में वह समुपस्थापित हो सके।

मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ कि श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य विद्वद्रत्न, बहुश्रुत मनीषी परमश्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी म० की छत्रच्छाया में भारतीय विद्या, जैन आगम आदि के सन्दर्भ में हो रहे विराट् कार्य के अन्तर्गत योगवाङ्मय का कार्य भी चल रहा है। उन्हीं के धर्मसंघ की परम विदुषी, योगनिष्ठ आदर्श साधिका, समादरणीया महासती श्री उमरावकुँवर जी म० 'अर्चना' के मार्गदर्शन तथा संयोजन में मेरे अनन्य आत्मीय विद्वान डॉ० छगन लाल जी शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी. ने, जिनकी प्रतिभा एवं वैदुष्य पर मुझे गर्व है,

महान् ज्ञानी, महान् योगी, स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र सूरि के योग पर दो संस्कृत-ग्रन्थ—योगदृष्टि समुच्चय तथा योगबिन्दु एवं दो प्राकृतग्रन्थ—योगशतक व योग-विंशिका का राष्ट्रभाषा हिन्दी में सम्पादन, अनुवाद और विवेचन किया है, जो इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत है।

डॉ० शास्त्री को उनके बाल्यकाल से ही मैं देखता रहा हूँ, उन्हें प्रज्ञा, विद्या तथा साधना संस्कार से प्राप्त है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में जो उन्होंने उपलब्धियाँ की हैं, वे वास्तव में स्तवनीय तथा वर्द्धापनीय हैं। उनके अध्ययन, ज्ञान एवं चिन्तन से समाज उपकृत तथा लाभान्वित हो, यह मेरी हार्दिक भावना है। उन्होंने योग को अपने प्रमुख अध्येय और विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार किया है, यह मेरे लिए और हर्ष की बात है। अपनी सशक्त लेखिनी द्वारा योग वाङ्मय के उन विस्मृत या विस्मर्यमाण सत्यों को वे शब्दबद्ध करेंगे, प्रकाश में लायेंगे, जिनसे मानव-जाति का बहुत बड़ा उपकार संभाव्य है, ऐसा मुझे विश्वास है।

मैं साधकोत्तम, परम पूज्य युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० तथा योगशक्ति रूपा महासती श्री उमरावकुंवर जी म० 'अर्चना' से यह विनम्र अनुरोध करूँगा वे योग वाङ्मय के कार्य को कृपया विशेष बल प्रदान करते रहें और डॉ० शास्त्री जैसे प्रौढ़ अध्येताओं व मनीषियों को सत्प्रेरित करते रहें ताकि योगतत्त्व के प्रकाश द्वारा अज्ञानावृत लोकमानस में ज्ञान की दिव्य ज्योति उद्भासित हो सके।

पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों, यह मेरी अन्तःकामना है।

—डॉ० गौरीशंकर आचार्य
(एम. ए. पी-एच. डी.
विद्या भास्कर, शास्त्राचार्य,
वेदान्तवारिधि, सांख्ययोगतीर्थ)

हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

ज्ञान और कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है । कर्म सत्प्रयुक्त, सन्नियोजित तथा सार्थक हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि कर्म-प्रवृत्त पुरुष को यथार्थ ज्ञान हो । वह ज्ञान सत्यपरक हो । सन्निष्ठा तथा सद्ज्ञान से परिचालित, परिपोषित कर्म जीवन में अत्यन्त उपादेय होता है । निष्ठारहित और ज्ञानशून्य कर्म उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है । अतएव 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः', 'नाण पयासयरं' जैसे प्रेरक सूत्र-वाक्य अस्तित्व में आये । व्यक्ति ज्ञान की सूक्ष्मता और गहराई में ज्यों ज्यों प्रविष्ट होता जाता है, उसकी उसमें तन्मयता बढ़ती जाती है, तद्व्यतिरिक्त जागतिक पदार्थ विस्मृत होते जाते हैं । ज्ञान तब योग बन जाता है । उसमें से एक नूतन क्रान्ति का जन्म होता है । वह क्रान्ति है अपनी विराट्ता को जानने तथा अधिगत करने का सत् पराक्रम । उस विराट्ता को स्वायत्त कर लेने का अर्थ है आत्मभाव का परमात्मभाव में रूपान्तरण ।

ज्ञान एक महासागर की तरह असीम एवं अगाध है । जन्म-जन्मान्तर पर्यन्त सतत प्रयत्नशील रहने पर भी मानव केवल उसके कुछ कण ही बटोर सकता है । पर थोड़े ही सही, ये ज्ञान कण निश्चित रूप में बहुत बड़ी निधि बन जाते हैं ।

बचपन से ही मेरी ज्ञान में सहजरुचि रही है और जितना जो संभव हो सका, इस दिशा में मेरा विनम्र प्रयास रहा । अपने इस अध्ययन क्रम में मेरा योग-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ने में विशेष झुकाव रहा । मैंने अपनी संयम-यात्रा में इसी लक्ष्य से चरणन्यास किया था—जब जीवन का एक पक्ष विधि ने मुझ से छुड़ा लिया है और तत्त्वतः जो छोड़ने ही योग्य है, मुझे दूसरे पक्ष को सही माने में सजाना-सँवारना है ।

मेरे श्रद्धेय पिताश्री एक पुण्यचेता सात्त्विक पुरुष थे । लोक में रहते हुए भी वे वस्तुतः उसमें निमग्न नहीं थे, एक प्रकार से अलिप्त भी । उनकी स्नेह भरी गोद में मैं पली, क्योंकि मेरी वात्सल्यमयी माँ को भाग्य ने मुझ से जन्म लेने के कुछ ही दिन बाद छीन लिया था । पिताजी से मुझे जहाँ दैहिक पुष्टि मिली, उनके व्यक्तित्व की पावनता ने सहजरूप में मुझे वे आध्यात्मिक संस्कार दिये, जिनकी अभिव्यक्ति मैंने श्रमण जीवन में उपलब्ध की । पिताजी सचमुच एक योगी थे और कतिपय दृष्टियों से पहुँचे हुए भी । मेरे साथ वे भी श्रमण-जीवन में प्रव्रजित हो गये और अपनी आध्यात्मिक यात्रा में बड़ी वीरता से आगे बढ़ते गये । मैं इसे अपना विशेष सौभाग्य ही कहूँगी, गृही जीवन में उनकी छत्रच्छाया मुझ पर रही हो, श्रमण जीवन में भी समय-समय पर उनका प्रेरक सान्निध्य मुझे प्राप्त होता ही रहा ।

इसके लिए हठयोग की साधना को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परम्परा के योगविषयक ग्रन्थों में भी हठयोग को अग्राह्य कहा है,[1] फिर भी वैदिक परम्परा में हठयोग की प्रधानता वाले अनेक ग्रन्थों एवं मार्गों का निर्माण हुआ है। परन्तु, जैन साहित्य में हठयोग को कोई स्थान नहीं दिया है। क्योंकि, हठयोग में हठपूर्वक, बलपूर्वक रोका गया मन थोड़ी देर बाद जब छूटता है, तो सहसा टूटे हुए बाँध की तरह तीव्र वेग से प्रवाहित होता है और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है इसलिए जैन परम्परा में योगों का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान में समिति-गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहजयोग भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब भी साधक आने-जाने, उठने-बैठने, खाने-पीने, पढ़ने-पढ़ाने आदि की जो भी क्रिया करे, उस समय वह अपने योगों को अन्यत्र से हटाकर उस क्रिया में केन्द्रित कर ले। वह उस समय तद्रूप बन जाय। इससे मन इतस्ततः न भटककर एक जगह केन्द्रित हो जाएगा और उसकी साधना निर्बाध गति से प्रगतिशील बनी रहेगी।

जैनागमों में योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ एवं जिह्वा को हिलाने की भी अनुमति नहीं है। उसमें केवल साँस के आवागमन के अतिरिक्त कोई हरकत नहीं की जाती। इस तरह काय-स्थिरता के साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में ध्यान एवं साधना कहते हैं। एकाग्रता के अभाव में वह साधना भाव-यथार्थ साधना नहीं, बल्कि द्रव्य-साधना कहलाती है। भाव-आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है—प्रत्येक साधक—भले ही वह साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जब अपना मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, उपयोग उसमें लगा देता है, उसमें प्रीति रखता है, उसकी भावना करता है और अपने मन को अन्यत्र नहीं जाने देता है, इस तरह जो साधक उभय काल आवश्यक-प्रतिक्रमण करता है, उसे 'भाव-आवश्यक' कहते हैं।[2] इसके अभाव में किया जाने वाला आवश्यक 'द्रव्य-आवश्यक' कहलाता है। यही बात अन्य धर्म-साधना एवं ध्यान के लिए समझनी चाहिए।

जैनागमों में योग-साधना के लिए प्राणायाम आदि को अनावश्यक माना है। क्योंकि, इस प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग आदि का निवारण किया जा सकता है और काल—मृत्यु के समय का परिज्ञान किया जा

---

१ योगवासिष्ठ, ६२, ३७—३६।

२ अनुयोगद्वार सूत्र, श्रुताधिकार, २७

इस श्रुत-सेवा मे जैसा बन सके, अपना साथ देना सहर्ष स्वीकार किया। इस कार्य के सन्दर्भ मे बीच-बीच मे डॉ० शास्त्रीजी से विचार-चर्चा होती रही। उनके ज्ञान की गहराई, प्रज्ञा की उर्वरता तथा कार्य के प्रति निष्ठा देखकर मुझे असीम हर्ष हुआ।

उक्त चारों ग्रन्थ सुसम्पादित, अनूदित, व्याख्यात रूप मे प्रस्तुत है। डॉ० शास्त्री जी की लेखिनी की अपनी विशेषता है। विपुल भाव का सक्षिप्त शब्दावली मे बाँध पाने मे उनका विशेष कौशल है। अनुवाद की उनकी अपनी विशेष सुन्दर, प्राञ्जल शैली है। वह विद्वद् योग्य भी है और लोकगम्य भी। भाव की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थ बडे जटिल और कठिन है। परंपरा, विषय तथा भाषा तीनों मे निष्णात विद्वान् ही ऐसे कार्य को कर सकते है। डॉ० शास्त्रीजी इस कार्य मे सर्वथा सफल सिद्ध हुए है।

जैन योग के गहन अध्येताओ तथा अन्वेष्टाओ के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। जैन योग के अभ्यासी तथा जिज्ञासु जन भी इनसे लाभ उठा सकेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रसग मे परम श्रद्धेय सन्त रत्न स्वामीजी श्री ब्रजलालजी म० सा० तथा परम सम्माननीय बहुश्रुत पण्डितरत्न युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म० सा० को अत्यन्त श्रद्धा से नमन करती हूँ, जिनकी सुखद छत्रच्छाया मे योगवाङ्मय का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रकाशन के अवसर पर देश के महान् विद्वान्, चिन्तक एव लेखक, राष्ट्रसन्त कविवर श्री अमर मुनिजी म० सा० ने योग के परिशीलन के रूप मे बड़ी ही ठोस एवं बोधप्रद सामग्री प्रदान की थी, जो योगशास्त्र मे पृष्ठभूमि के रूप मे प्रकाशित है। सामग्री इतनी गवेषणापूर्ण तथा शाश्वत महत्ता एवं उपयोगिता लिये हुए है कि इस ग्रन्थ मे भी "जैन योग : एक परिशीलन" शीर्षक से उसे उद्धृत किया गया है। इससे नि.सन्देह सुधी पाठक महान् योगी आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थो को समझने योग्य बौद्धिक पृष्ठभूमि प्राप्त करेंगे।

ऐहिक तथा पारलौकिक दोनो दृष्टियों से जिनसे मैंने ऐसा दिव्य अवदान प्राप्त किया, जो मेरी संयम-यात्रा में सुधोपम पाथेय सिद्ध हुआ, उन परम श्रद्धास्पद पितृचरण (स्व० मुनि श्री मागीलाल जी म० सा०) की जीवन-रेखा, जो मैंने योगशास्त्र में प्रस्तुत की थी, साधनानुरागी भाई-बहिनो के लिए प्रेरणाप्रद मानते हुए, यहाँ भी उद्धृत की गई है।

अन्तत. मेरी यही सत्कामना है, जीवन का रहस्य समझने तथा सत्य स्वायत्त करने की इच्छा रखने वाले सुधीजन इस ग्रन्थ से अवश्य लाभान्वित हों।

नोखा चादावतों का
(राजस्थान)

—जैन साध्वी उमरावकुंवर
'अर्चना'

[१६]

प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा ।
सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥

पहली चार दृष्टियाँ—मित्रा, तारा, बला तथा दीप्रा, प्रतिपात—भ्रंश युक्त हैं अर्थात् जो साधक उन्हें प्राप्त कर लेता है, उनसे भ्रष्ट भी हो सकता है। पर भ्रष्ट होता ही हो, ऐसा नहीं है। भ्रंश या पतन की संभावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय—अपाय या बाधायुक्त कही जाती हैं।

आगे की चार दृष्टियाँ—स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा प्रतिपात-रहित, अतएव बाधारहित हैं।

[२०]

प्रयाणभङ्गाभावेन निशि – स्वापसमः पुनः ।
विघातो दिव्यभावतश्चरणस्योपजायते ॥

अप्रतिपाती दृष्टि प्राप्त होने पर योगी का अपने मोक्षरूप लक्ष्य की ओर अनवरत प्रयाण चालू हो जाता है। हाँ, जिस प्रकार यात्रा पर आगे बढ़ते पथिक को रात में कुछ एक स्थानों पर रुकना पड़ता है, जो किसी अपेक्षा से उसकी यात्रा का अंशतः विघात है, उसी प्रकार मोक्षोन्मुख योगी को अवशिष्ट कर्म-भोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देव-जन्म आदि में से गुजरना होता है, जो आपेक्षिक रूप में चरण-चारित्र्य-लक्ष्य की ओर गतिशीलता में विघात या रुकावट है। पर, इतना निश्चित है, *उसके इस प्रयाण का समापन-लक्ष्य-प्राप्ति में होता है।*

मित्रा-दृष्टि—

[२१]

मित्रायां दर्शनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा ।
अखेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ॥

समस्त जगत् के प्रति मित्र भाव के उद्बोधन के कारण यह दृष्टि मित्रादृष्टि के रूप में अभिहित हुई है। इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर

सहजरूप में संसार के प्रति वैराग्य, द्रव्य अभिग्रह—सत्पात्र को निर्दोष आहार, औषधि, उपकरण आदि का सम्यक् दान तथा सिद्धान्त या सत् शास्त्रों का लेखन आदि योगबीज में आते हैं।

[२८]

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।
प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ॥

गत (सत्ताईसवें) श्लोक में लेखना के साथ आये आदि शब्द से सत् शास्त्रों के लेखन के साथ-साथ उनकी पूजा, सत्पात्र को दान, शास्त्र-श्रवण, वाचन, विधिपूर्वक-शुद्ध उपधान-क्रिया आदि द्वारा शास्त्रों का उद्ग्रहण—सम्मान आत्मार्थी जिज्ञासुजनों में शास्त्रों का प्रकाशन-प्रसार, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन तथा पुनः-पुनः आवर्तन ग्राह्य है।

[२९]

बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया ।
तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ॥

योग-बीजों के सुनने पर उत्पन्न भावोल्लास—श्रद्धोत्कर्ष से जो तद्विषयक मान्यता सुस्थिर होती है, वह भी योग-बीजों में समाविष्ट है। योग-बीजों के प्रति शुद्ध एवं समुन्नत उपादेय भाव भी योग-बीजों के अन्तर्गत है।

[३०]

एतद्भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम् ।
करोत्यव्यक्तचैतन्यो महत्कार्यं न यत् क्वचित् ॥

जिन मनुष्यों का भाव-मल—आन्तरिक मलिनता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, उनमें योग-बीज उत्पन्न होते हैं—वे योग-बीज के अधिकारी हैं। जिस मनुष्य की चेतना अव्यक्त—अजागरित—अस्फुटित है, वह योग-बीज स्वायत्त करने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता।

[३१]

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चास्योपपद्यते ।
जीवानां लक्षणं तत्र यत एतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में भाव-मल का क्षय होता है। उस स्थिति में वर्तमान जीवों का लक्षण इस प्रकार (अग्रिम श्लोक में कथ्यमान) है।

[३२]

दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्यात्सेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥

दुःखी प्राणियों के प्रति अत्यन्त दया-भाव, गुणीजनों के प्रति अद्वेष—अमत्सर-भाव तथा सर्वत्र जहाँ जैसा उचित हो, बिना किसी भेद-भाव के व्यवहार करना, सेवा करना—यह उन जीवों की पहचान हैं जिनका भावमल क्षीण हो जाता है।

[३३]

एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः ।
शुभो निमित्त-संयोगो जायतेऽवंचकोदयात् ॥

ऐसे भद्रमूर्ति—सौम्य स्वरूप, महात्मा—उत्तम पुरुष को अवञ्चकोदय के कारण शुभ निमित्त का संयोग प्राप्त होता है।

[३४]

योगक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवंचकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परममिषुलक्ष्यक्रियोपमम् ॥

साधकों में तीन अवञ्चक—योगावञ्चक, क्रियावञ्चक तथा फलावञ्चक प्राप्त होते हैं, यों सुना जाता है।

जो वञ्चना—प्रवञ्चना न करे, कभी न चूके, उलटा न जाय, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे, उसे अवञ्चक कहा गया है। सद्गुरु का सुयोग प्राप्त होना योगावञ्चक है। उनका वन्दन, नमन, सेवा, सत्कार आदि शुभ क्रियाएँ क्रियावञ्चक है। ऐसे उत्तम कार्य का फल, जो अमोघ होता है, फलावंचक है।

[३५]

एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम् ।
अस्य हेतुश्च परमस्तथा भावमलाल्पता ॥

सत्प्रणाम—सत्पुरुषों को प्रणमन, उनकी वैयावृत्य—सेवा आदि सत्कार्यों के परिणामस्वरूप अवञ्चकत्रय की प्राप्ति होती है। सत्प्रणाम आदि उत्तम कार्यों का मुख्य हेतु भावमल—वैचारिक मलिनता की अल्पता है।

[३६]

नास्मिन् घने यतः सत्सु, तत्प्रतीतिर्महोदया ।
किं सम्यग् रूपमादत्ते कदाचिन्मन्दलोचनः ॥

जब तक भावमल सघनता लिए रहता है, तब तक साधक के मन में सत्पुरुषों के प्रति महोदय—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय या अन्तःश्रद्धारूप प्रतीति नहीं होती। जिनकी नेत्र-ज्योति मन्द है, ऐसा पुरुष क्या दृश्य पदार्थों का रूप भलीभांति ग्रहण कर सकता है?

[३७]

अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते ।
चेष्टते चेष्ट-सिद्ध्यर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥

अल्पव्याधि—जिसके बहुत थोड़ी बीमारी बाकी रही है—जो लगभग स्वस्थ जैसा है, वह अवशिष्ट रहे अति साधारण रोग के मामूली विकारों से बाधित नहीं होता। वह इच्छित कार्य साधने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसी प्रकार वह योगी—योग साधक वृत्ति—धृति, श्रद्धा, सुखविविदिषा—सत्तत्व चर्चा तथा विज्ञप्ति—विशिष्ट ज्ञानानुभूति—इन चार अन्तर्वृत्तियों के साथ हितकर कार्य में प्रवृत्त होता है।

[३८]

यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः ।
आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में अन्तर्मल की अल्पता के कारण उस साधक के, जो ग्रन्थिभेद के लगभग सन्निकट पहुँच चुका हो, यह सारी स्थिति निष्पन्न होती है।

[३९]

अपूर्वासन्नभावेन व्यभिचारवियोगतः ।
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण के साथ सन्निकटता लिए रहता है। अर्थात् अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण आता है। इसमें कोई व्यभिचार—वैपरीत्य या उलटफेर नहीं होता। अपूर्वकरण अन्तःशुद्धि की दृष्टि से अपने आप में सर्वथा वैसी नवीनता या मौलिकता लिए रहता है, जो पहले कभी निष्पन्न नहीं हुई, इसलिए उसकी 'अपूर्व' संज्ञा तत्त्वतः संगत है। योगवेत्ता ऐसा जानते हैं।

[४०]

प्रथमं यद्गुणस्थानं सामान्येनोपवर्णितम् ।
अस्यां तु तदवस्थायां मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥

मिथ्यादृष्टि में आत्मगुणों की स्फुरणा के रूप में अन्तर्विकास की दिशा में जो प्रथम उद्घाटन होता है, उस अवस्था में यथार्थतः प्रथम गुणस्थान की मुख्यता मानी जाती है। अर्थात् आत्म-अभ्युदय या अध्यात्म-योग की यह पहली दशा है जिसमें यद्यपि दृष्टि तो पूर्णतया सम्यक् नहीं हो पाती पर अन्तर्जागरण तथा गुणात्मक प्रगति की यात्रा का यहाँ से शुभारम्भ हो जाता है।

तारा-दृष्टि

[४१]

तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥

तारादृष्टि में बोध मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होता है। योग

का दूसरा अंग नियम वहाँ सधता है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्म-चिन्तन—जीवन में फलित होते है।[1] आत्म-हितकर प्रवृत्ति में अनुद्वेग—उद्वेग का अभाव अर्थात् उत्साह तथा तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

[४२]

भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथास्वलम् ।
शुद्धयोगेषु नियमाद् बहुमानश्च योगिषु ॥

इस दृष्टि में योग कथा—योग सम्बन्धी चर्चा में साधक अच्छिन्न—विच्छेद रहित या अखण्डित प्रीति—अभिरुचि लिए रहता है। शुद्ध योग-निष्ठ योगियों का वह नियमपूर्वक बहुमान करता है।

[४३]

यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रदः ।
योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुतः ॥

शुद्ध योगनिष्ठ योगियों के बहुमान के साथ-साथ वह साधक उनके प्रति यथाशक्ति सेवा-भाव लिए रहता है—उनकी सेवा करता है। इससे उसे अपनी योग-साधना में निश्चय ही विकासात्मक फल प्राप्त होता है तथा शुद्ध योगनिष्ठ सत्पुरुषों का अनुग्रह मिलता है।

[४४]

लाभान्तरफलश्चास्य श्रद्धायुक्तो हितोदयः ।
क्षुद्रोपद्रवहानिश्च शिष्टा-सम्मतता तथा ॥

सेवा से और भी लाभ प्राप्त होते हैं—श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित का उदय होता है, क्षुद्र—तुच्छ उपद्रव मिट जाते हैं एवं शिष्टजनों से उसे मान्यता प्राप्त होती है।

---

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

—पातंजल योगसूत्र २-३२

[४५]

भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते ।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥

इस दृष्टि में अवस्थित पुरुष को भव—जन्म मरण रूप आवागमन का अत्यन्त भय नहीं होता। उचित स्थान में कृत्य-हानि—अकार्यकारिता नहीं होती अर्थात् जहाँ जैसा करना है, वह वहाँ वैसा करता है। अनजाने भी उससे कोई अनुचित क्रिया नहीं होती।

[४६]

कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता ।
तुल्ये निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः ॥

जो गुणों में अधिक या आगे बढ़े हुए हैं, जिनके कार्य भी वैसे ही हैं, उनके प्रति साधक के मन में लालसापूर्ण—उल्लासयुक्त जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अपने विकल—कमीयुक्त कार्य के प्रति उसके मन में द्वेषरहित संत्रास होता है अर्थात् वह अपनी कमियों के लिए अन्तरतम में संत्रास का अनुभव करता है, मन में जरा भी उनके लिए द्वेष-भाव नहीं लाता।

[४७]

दुःखरूपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ।
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च साशेषा ज्ञायते कथम् ॥

यह सारा संसार दुःख-रूप है। किस प्रकार इसका उच्छेद हो? सत्पुरुषों की विविध प्रकार की आश्चर्यकर सत्प्रवृत्तियों का ज्ञान कैसे हो? साधक ऐसा सात्त्विक चिन्तन लिए रहता है।

[४८]

नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।
शिष्टाः प्रमाणमिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ॥

उनका चिन्तन-क्रम आगे बढ़ता है—हमारे में विशेष बुद्धि नहीं है, न शास्त्राध्ययन ही विस्तृत है इसलिए सत्पुरुष ही हमारे लिए प्रमाणभूत हैं।

बला दृष्टि —

[४९]

सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम् ।
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥

बलादृष्टि में सुखासनयुक्त दृढ़ दर्शन—सद्बोध प्राप्त होता है, परम तत्त्व शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की अत्यन्त तीव्र इच्छा जागती है तथा योग की साधना में अक्षेप—क्षेप नामक चित्त-दोष या चैतसिक विक्षेप का अभाव होता है।

इस दृष्टि में योग के तीसरे अंग आसन[1] के सधने की बात कही गयी है। यहाँ सुखासन शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि जिस प्रकार सुखपूर्वक शान्ति से बैठा जा सके, उस आसन में योगी को स्थित होना चाहिए। इससे मन में उद्वेग नहीं होता। ध्यान आदि में चित्त स्थिर रहता है।

बाह्य आसन के साथ-साथ आन्तरिक आसन की बात भी यहाँ समझने योग्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से पर-वस्तु में जो आसन या स्थिति है, वह दुःखप्रद है। इसलिए वह दुःखासन है। अपने सहज स्वरूप में स्थित होना पारमार्थिक दृष्टि से सुखासन—सुखमय आसन है।

[५०]

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्त्तते ।
तदभावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम् ॥

इस दृष्टि के आ जाने पर असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा सहज ही प्रवृत्तिशून्य हो जाती है अर्थात् स्वतः रुक जाती है। यों तृष्णा का अभाव हो जाने पर साधक की सब कहीं सुखमय—आत्मिक उल्लासमय स्थिति बन जाती है।

---

१ स्थिरसुखमासनम्। —पातंजल योगसूत्र २-४६

[५१]

अत्वरापूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा ।
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥

उस साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुखद समावेश हो जाता है कि उसका गमन, हलन-चलन त्वरा—उतावलेपन से रहित होता है। दृष्टि आदि में दोष न रह जाने से उसके सब कार्य मानसिक सावधानी लिए रहते हैं।

[५२]

कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ॥

सुन्दर रमणी से युक्त युवा पुरुष को जैसे दिव्य संगीत सुनने की उत्कण्ठा रहती है, उसी प्रकार इस दृष्टि से युक्त साधक को तत्त्व सुनने की उत्सुकता बनी रहती है।

[५३]

बोधाम्भः स्रोतसश्चैषा सिरातुल्या सतां मता ।
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत् ॥

सत्पुरुषों का ऐसा मानना है कि यह शुश्रूषा बोधरूपी जल के स्रोत की सिरा—भूमिवर्ती जलनालिका के समान है। इसके न होने पर सारा सुना हुआ उस कुए की तरह व्यर्थ है, जो जल की अन्तर्नालिका रहित भूमि में बना हो।

[५४]

श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः ।
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात्परबोधनिबन्धनम् ॥

यदि श्रवण का अभाव हो—तत्त्व सुनने का योग न मिल पाये तो भी शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की उत्कण्ठा का शुभभाव की प्रवृत्ति के कारण कर्मक्षय रूप फल होता है जो परम बोध का कारण है।

[५५]

शुभयोगसमारम्भे न क्षेपोऽस्यां कदाचन ।
उपायकौशलं चापि चारु तद्विषयं भवेत् ॥

इस दृष्टि को प्राप्त कर लेने पर योगी के ध्यान, चिन्तन, मनन आदि शुभ योगमूलक कार्यों में विक्षेप नहीं आता। वह अपने शुभ समारम्भमय उपक्रम में कुशलता—निपुणता प्राप्त करता जाता है।

[५६]

परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते ।
अविघातश्च सावद्यपरिहारान्महोदयः ॥

परिष्कार—उपकरण—अध्यात्म-साधना में उपकारक या सहायक साधनों के सन्दर्भ में उसके इच्छा-प्रतिबन्ध नही होता। अर्थात् साधन को ही सब कुछ मानकर वह उसमें अटका नही रहता। आत्मसिद्धिरूप साध्य अधिगत करने में सदा प्रयत्नशील रहता है। पापपूर्ण प्रवृत्तियों का वह परित्याग कर देता है अतः योग-साधना मे उसके अविघात—इच्छा-प्रतिबन्ध आदि विघ्नों का अभाव हो जाता है। फलतः महान्—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय सधता है।

दीप्रा-दृष्टि

[५७]

प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविवर्जिता ॥

दीप्रा दृष्टि में प्राणायाम[1] सिद्ध होता है। वहाँ अन्तरतम में ऐसे प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि चित्त योग में से उठता नहीं, हटता नहीं, अन्यत्र जाता नहीं। यहाँ तत्त्व-श्रवण सधता है—तत्त्व सुनने-समझने के प्रसंग प्राप्त रहते हैं—केवल बाहरी कानों से नहीं,

---

१ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

—पातंजल योगसूत्र २-४९

अन्तःकरण द्वारा तत्त्व-श्रवण की स्थिति बनती है, अन्तर्ग्राहकता का भाव उदित होता है। पर, सूक्ष्मबोध अधिगत करना अभी बाकी रहता है। वैसी स्थिति नहीं बनती।

प्राणायाम केवल रेचक—श्वास का बाहर निकालना, पूरक—भीतर खींचना तथा कुम्भ या घड़े में पानी की तरह श्वास को भीतर निश्चलतया रोके रखना—यों बाहरी प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए। बाह्य भाव या परभाव का रेचक—परभाव को अपने में से बाहर निकालना, अन्तरात्मभाव—आत्मस्वरूपानुप्रत्यय भीतर भरना—अन्तरतम को तन्मूलक चिन्तन-मनन से आपूर्ण करना, उस प्रकार के चिन्तन-मनन को अपने में स्थिर किये रहना—यह भाव-प्राणायाम है, जिसका आत्म-विकास में बहुत बड़ा महत्त्व है।

[५८]

प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्मः सत्यामस्यामसंशयम् ।
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक का मन:स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निश्चित रूप से धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग कर देता है पर प्राणघातक संकट आ जाने पर भी धर्म को नहीं छोड़ता।

[५९]

एक एव सुहृद्धर्मो मृतमप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

धर्म ही एक मात्र ऐसा सुहृद्—मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है। और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है, शरीर के साथ कोई भी नहीं जाता।

[६०]

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः ।
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्रपद्यते ॥

साधक यों सात्त्विक भावों से आप्यायित हो जाता है। वह तत्त्व-श्रवण में तत्पर रहता है। आत्मबल के सहारे धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है।

[६१]

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।
बीजं प्ररोहमाधत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥

खारे पानी के त्याग और मीठे पानी के योग से जैसे बीज उग जाता है, उसी प्रकार तत्त्व-श्रवण से साधक के मन में बोध-बीज अंकुरित हो जाता है।

प्ररोह शब्द का एक अर्थ बीज का उगना या अंकुरित होना है, दूसरा अर्थ ऊपर चढ़ना या आगे बढ़ना भी है। इस दूसरे अर्थ के अनुसार साधक साधना-सोपान पर चढ़ता जाता है अथवा साधना-पथ पर आगे बढ़ता जाता है।

[६२]

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः ।
मधुरोदकयोगेन समा तत्त्वश्रुतिस्तथा ॥

भवयोग—सांसारिक प्रसंग—जागतिक पदार्थ एवं भोग खारे पानी के समान माने गये हैं तथा तत्त्व-श्रवण मधुर जल के समान है।

[६३]

अतस्तु नियमादेव कल्याणमखिलं नृणाम् ।
गुरुभक्तिसुखोपेतं लोकद्वयहितावहम् ॥

अतः तत्त्व-श्रवण से नियमतः—निश्चित रूपेण साधक जनों का सम्पूर्ण कल्याण सधता है। इससे गुरुभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है और यह ऐहिक तथा पारलौकिक—दोनों अपेक्षाओं से हितकर है।

[६४]

गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।
समापत्त्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥

गुरु-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति—परमात्मस्वरूप—शुद्ध आत्म-स्वरूप के ध्यान द्वारा तीर्थंकर-दर्शन—तीर्थंकर स्वरूप का अन्तःसाक्षात्कार होता है, अथवा तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप तीर्थंकरभाव की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का अद्वितीय—अमोघ—सुनिश्चित कारण है।

[६५]

सम्यग्घेत्वादिभेदेन लोके यस्तत्त्वनिर्णयः ।
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥

जीवन का साध्य, उसका यथार्थ हेतु, उसकी परिपुष्टि, तत्त्व का स्वरूप, फल आदि द्वारा ज्ञानी जन तत्त्व का निर्णय करते हैं। वेद्य—वेदने योग्य, जानने योग्य या अनुभव करने योग्य तत्त्व की अनुभूति के कारण वह ज्ञान सूक्ष्मबोध कहा जाता है।

[६६]

भवाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मवज्रविभेदतः ।
ज्ञेयव्याप्तेश्च कार्त्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमत्र तु ॥

संसार-सागर से निस्तार, कर्मवज्र—कर्मरूपी हीरे का विभेद तथा अनन्तधर्मात्मक अखण्ड वस्तु-तत्त्व-रूप ज्ञेय का समग्रता से ग्रहण—यह सब इससे सधता है, इसलिए इसे [illegible] कहा गया है। अर्थात् एतद्रूप सूक्ष्मबोध [illegible] पर [illegible] जन्म-मरण के

[६७]

अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम् ।
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभमतः परम् ॥

पिछली चार दृष्टियों में अवेद्यपद—जानने योग्य को अनुभूत कर पाने की क्षमता का अभाव बहुत प्रबल होता है अत. वेद्यसवेद्यपद वहाँ नहीं सध पाता। आकाश में उड़ते पक्षी की छाया को पक्षी जानकर पकड़ने का उद्यम करते जलचर जैसी स्थिति साधक की वहाँ होती है। अर्थात् तत्त्वतः वहाँ वेद्यसवेद्यपद की प्राप्ति नहीं होती। उस दिशा में साधक का प्रयत्न तो रहता है, पर वह यथार्थ सिद्ध नहीं होता।

[६८]

अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविबन्धकृत् ।
नैतद्वतोऽयं तत्तत्त्वे कदाचिदुपजायते ॥

अपाय—जो नरक आदि दुर्गति प्राप्त कराएँ, ऐसे क्लिष्ट कर्मों की शक्ति रूप मलिनता सूक्ष्मबोध प्राप्त होने में बाधक होती है। यह मालिन्य जिसके होता है, उसे सूक्ष्म तत्त्व-बोध कभी अधिगत नहीं होता।

[६९]

अपायदर्शनं तस्मात्श्रुतदीपान्न तात्त्विकम् ।
तदाभालंबनं त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तितः ॥

आगम एक ऐसा दीपक है, जो मोहरूप अन्धकार से आपूर्ण इस जगत् में समग्र पदार्थों का यथार्थ दर्शन कराता है परन्तु इस दृष्टि में स्थित साधक को अपाय-शक्ति-रूप मलिनता के कारण तत्त्वतः अपाय-दर्शन नहीं होता अर्थात् आत्म-विपरीत स्थिति में ले जाने वाले क्लिष्ट कर्मों को वह यथार्थतः देख नहीं पाता। वह केवल उनकी आभा या आभास मात्र का अनुभव कर पाता है क्योंकि वह तथाप्रकार के पापों में स्वयं लगा है।

[७०]

अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात् पापे कर्मागसोऽपि हि ।
तप्तलोह-पदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ॥

अवेद्य-संवेद्यपद के प्रतिरूप—वेद्य-संवेद्यपद आगे की चार दृष्टियों में प्राप्त रहता है। वेद्य-संवेद्यपद के परम प्रभाव के कारण साधक पाप-कार्य में प्रायः अप्रवृत्त रहता है। पूर्व-संचित अशुभ कर्मवश कदाचित् पाप में प्रवृत्ति हो भी जाती है, तो वह तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी होती है। जैसे तपे हुए लोहे पर यदि किसी का पैर टिक जाता है तो वह तत्क्षण वहाँ से हटा लेता है, जरा देर भी टिकाये नहीं रखता। उसी प्रकार साधक की यदि जाने-अनजाने हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति हो जाती है तो वह तत्क्षण सावधान हो जाता है, उधर से अपने को उसी क्षण हटा लेता है।

[७१]

वेद्यसंवेद्यपदतः संवेगातिशयादिति ।
चरमैव भवत्येषा पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥

वेद्य-संवेद्यपद प्राप्त हो जाने के कारण तथा तीव्र मोक्षाभिलाषा के कारण साधक द्वारा जो कदाचित् पाप-प्रवृत्ति होती है, वह अन्तिम होती है। दृष्टिविकासक्रम की अग्रिम मंजिल में वह सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। क्योंकि जैसी स्थिति वह प्राप्त कर चुकता है, उसमें फिर दुर्गति पाने का योग—संभावना नहीं होती।

[७२]

अवेद्यसंवेद्यपदमपदं परमार्थतः ।
पदं तु वेद्यसंवेद्यपदमेव हि योगिनाम् ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में पद—पैर टिकाने का स्थान—अध्यात्म-विकास की यात्रा में उत्प्रेरक, उपयोगी स्थान नहीं है। योगियों के लिए वेद्यसंवेद्य पद ही वस्तुतः पद है।

[७३]

वेद्यं-संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम् ।
तथाप्रवृत्तिबुद्ध्याऽपि स्त्र्याद्यागमविशुद्धया ॥

वहाँ अपाय—आत्माभ्युदय में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य—वेदन या अनुभव करने योग्य पदार्थ आगमों के अनुशीलन से विशुद्ध हुई अप्रवृत्तिशील बुद्धि द्वारा अनुभूत किये जाते हैं। अर्थात् वेद्य पदार्थों का संवेदन—अनुभवन वहाँ होता है पर उनके प्रति रसात्मक या रागात्मक भाव नहीं होता, जैसा उनका स्वरूप है, मात्र वैसी प्रतीति—अनुभूति वहाँ गतिशील रहती है अतः वैसा अनुभव करने वाली शास्त्रपरिष्कृत बुद्धि आन्तरिक दृष्टि से प्रवृत्तिशून्य ही कही जाती है।

[७४]

तत्पदं साध्ववस्थानाद् भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम् ।
अन्वर्थयोगतस्तन्त्रे वेद्यसंवेद्यमुच्यते ॥

वह पद साधु अवस्थान—सम्यक् स्थिति लिए होता है। कर्मग्रन्थि-भेद, देशविरति आदि से उसका स्वरूप लक्षित होता है। शास्त्र में (वेद्यसंवेद्य) शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही उसे 'वेद्यसंवेद्य' कहा जाता है।

[७५]

अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो मतम् ।
भवाभिनन्दिविषयं समारोपसमाकुलम् ॥

वेद्यसंवेद्यपद से विपरीत—प्रतिरूप अवेद्यसंवेद्यपद है। उसका विषय भवाभिनन्दिता है। अर्थात् भवाभिनन्दी—संसार के राग-रस में रचे-पचे जीवों के साथ उसका लगाव है। इसमें एक पर दूसरे का—स्व पर पर-वस्तु का, पर-वस्तु पर स्व का आरोप करते रहने की वृत्ति बनी रहती है, जो आत्म-परिपन्थी या श्रेयस् के प्रतिकूल है।

[७६]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—पामर वृत्तियुक्त, लाभरति—क्षणिक, निःसार सांसारिक लाभ—धन, भोग्य पदार्थ, भौतिक सुख-सुविधा आदि में आसक्त, दीन—दैन्ययुक्त, आत्मिक ओजस्विता रहित, रंकवत् अपने को हीन मानने वाला, मत्सरी—गुणद्वेषी, ईर्ष्यालु, भयवान्—सदा भयभ्रान्त रहने वाला, शठ—मायावी, कपटी तथा अज्ञ—अज्ञानी, आत्मस्वरूप के भान से रहित होता है।

[७७]

इत्यसत्परिणामानुविद्धो बोधो न सुन्दरः ।
तत्संगादेव नियमाद्विषसंपृक्तान्नवत् ॥

यों असत् परिणामों से संकुल बोध सुन्दर नहीं होता। उन (असत् परिणामों) के संसर्ग से निश्चय ही वह विषमिले अन्न के समान होता है। विषमिश्रित अन्न जैसे पोषक न होकर घातक है, उसी प्रकार वह बोध आत्मा के लिए श्रेयस्कर न होकर विघातक—हानिकारक होता है।

[७८]

एतद्वन्तोऽत एवेह विपर्यासपरा नराः ।
हिताहितविवेकान्धाः खिद्यन्ते साम्प्रतेक्षिणः ॥

अतएव अवेद्यसंवेद्ययुक्त मनुष्य विपर्यासपरायण—वस्तु-स्थिति से विपरीत बुद्धि एवं वृत्ति रखनेवाले, हित, अहित के ज्ञान में अन्धवत्—अपना हित, अहित नहीं पहचानने वाले तथा मात्र वर्तमान को ही देखने वाले होते हैं—उनमें जरा भी दूरदर्शिता अथवा अतीत तथा भविष्यमूलक चिन्तन नहीं होता। वे अपनी अयोग्यता एवं अज्ञान के कारण दुःखी होते हैं।

[७६]

जन्ममृत्युजराव्याधि रोगशोकाद्युपद्रुतम् ।
वीक्षमाणा अपि भवं नोद्विजन्तेऽतिमोहतः ।।

जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, कुष्ट आदि घोर कष्टकर दुःसाध्य व्याधियाँ, ज्वर, अतिसार, विसूचिका आदि अत्यन्त पीड़ाप्रद रोग, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग-जनित दुःसह शोक आदि अनेक उपद्रवों से पीड़ित जगत् को देखते हुए भी वैसे जीव अत्यधिक—प्रगाढ़ मोह के कारण उससे जरा भी उद्विग्न नहीं होते, उसकी भयावहता, विकरालता देख उनके मन में खेद नहीं होता, उससे त्रस्त होकर उससे छूटने की भावना मन में नहीं आती ।

[८०]

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यवत् सदा ।
दुःखे सुखधियाकृष्टा कच्छूकण्डूयकादिवत् ।।

उनको कुकृत्य—बुरा कार्य कृत्य—करने योग्य प्रतीत होता है । जो करने योग्य है, वह उन्हें अकरणीय लगता है । जैसे पाँव (खाज, खुजली) को खुजलाने वाला व्यक्ति खुजला-खुजलाकर खून निकालता जाता है पर वैसा करने में वह अज्ञानवश सुख मानता है, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीव दुःख-मय संसार में करणीय, अकरणीय का भेद भूलकर हिंसा, परिग्रह, भोग आदि अकृत्यों में प्रवृत्त रहते हैं । उनमें सुख मानते हैं ।

[८१]

यथाकण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छूनिवर्तने ।
भोगाङ्गेषु तथैतेषां न तदिच्छापरिक्षये ।।

जैसे पाँव को खुजलाने वालों की बुद्धि मात्र खुजलाने में होती है, पाँव को मिटाने में नहीं, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीवों की बुद्धि भोगांगों—भोग्य विषयों में ही रहती है, विषयों की इच्छा—आसक्ति को मिटाने में नहीं ।

[८२]

आत्मानं पाशयन्त्येते सदाऽसच्चेष्टया भृशम् ।
पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ॥

ये जड़ जीव तात्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का विचार किये विना बहुलतया असत् चेष्टा—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील आदि द्वारा अपनी आत्मा को पाप रूपी धूल से मलिन बनाते हैं और स्वयं ही अपने को पाप-मय बन्धनों से बाँधते जाते हैं।

[८३]

धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।
न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥

कर्मभूमि में उत्तम धर्मबीज रूप मानुष्य—मनुष्य-जीवन प्राप्त कर मन्दबुद्धि पुरुष सत्कर्म रूपी खेती में प्रयत्न नहीं करते—दुर्लभ मनुष्य-जीवन का सत्कर्म करने में उपयोग नहीं करते।

[८४]

बडिशामिषवत्तुच्छे कुसुखे दारुणोदये ।
सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥

मच्छीमार द्वारा मछलियों को लुभाने हेतु काँटे में फँसाये हुए मछली के गले के माँस में लुब्ध होकर उसमें मछलियाँ फँस जाती हैं, उसी प्रकार जिसका फल-परिपाक भीषण दुःखमय है, वैसे तुच्छ, कुत्सित सुख में आसक्त हुए—लुभाये हुए मनुष्य सत्-चेष्टा—शुभ प्रवृत्ति या उत्तम कार्य छोड़ देते हैं। उनके अज्ञान रूपी भीषण अन्धकार को धिक्कार है।

[८५]

अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत् ।
सत्संगागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में अन्धत्व है, जिसके कारण मनुष्य दुर्गति में गिरते हैं। सत्पुरुषों की संगति तथा उनसे आगम-श्रवण, अध्ययन, अनु-

शीलन आदि द्वारा सत्त्वशील पुरुष इस (अवाञ्छनीय) स्थिति को जीत सकते हैं, इसे पराभूत कर सकते हैं।

[८६]

जीयमाने च नियमादेतस्मिंस्तत्त्वतो नृणाम् ।
निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः ॥

अवेद्यसंवेद्य पद के, जो महामिथ्यात्व का कारण है, जीत लिए जाने पर कुतर्क—कुत्सित या कुटिल तर्क—व्यर्थ तर्क-वितर्क, आवेश—अभिनिवेश की पकड़ स्वयं निश्चित रूप में यथार्थतः सर्वथा मिट जाती है अथवा कुतर्क रूप अनिष्ट ग्रह या भयावह प्रेत या दुर्धर्ष मगरमच्छ की पकड़ से मनुष्य सर्वथा छूट जाते हैं।

[८७]

बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा ॥

कुतर्क बोध के लिए रोग के समान बाधा-जनक, शम—आत्मशान्ति के लिए अपाय—विघ्न या हानिरूप, श्रद्धा को भग्न करने वाला तथा अभिमान को उत्पन्न करने वाला है। वह स्पष्टतः चित्त के लिए अनेक प्रकार से भाव-शत्रु है—चित्त का अनेक प्रकार से अहित करने वाला है।

[८८]

कुतर्केऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम् ॥

मुक्तिवादी—मोक्ष की चर्चा करने वाले—मुमुक्षु जनों के लिए कुतर्काभिनिवेश—कुतर्क में लगे रहना, रस लेना, आग्रह रखना युक्तिसंगत नहीं है। वैसे उत्तम पुरुष के लिए श्रुत—सद् आगम, शील—सच्चारित्र्य तथा समाधि—ध्याननिष्ठा में ही लगाव रखना, आग्रह लिये रहना समुचित है।

[८९]

बीजं चास्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम् ।
परार्थकरणं येन परिशुद्धमतोऽत्र च ॥

श्रुत, शील तथा समाधि का परम बीज—मुख्य कारण, सब योगियों को सिद्ध तथा अचूक फलप्रद परिशुद्ध—शुद्ध भावना से सम्पादित परोपकार है। उसी में लगाव या आग्रह रखना संगत है।

[९०]

अविद्यासंगताः प्रायो विकल्पाः सर्व एव यत् ।
तद्योजनात्मकश्चैव कुतर्कः किमनेन तत् ॥

सभी विकल्प—शब्दविकल्प, अर्थविकल्प आदि प्रायशः अविद्यासंगत—अविद्या के सहवर्ती हैं, ज्ञानावरणीय आदि के उदय से निष्पन्न हैं। उन (अविद्यासंगत) विकल्पों का योजक—उत्पादक, एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाला कुतर्क है। अतः ऐसे कुतर्क से क्या प्रयोजन !

[९१]

जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः ।
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥

सारा कुतर्क, जो प्रतीति और फल से रहित है—जिससे चर्चित वस्तु का प्रत्यय नहीं होता, उसके सम्बन्ध में संशयात्मकता बनी रहती है तथा जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, दूषणाभास-प्रधान है। अर्थात् वह प्रायः हर कहीं दूषण जैसे दिखाई देते छिद्र खोजता रहता है।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त है—न्यायशास्त्र का एक विद्यार्थी कहीं से आ रहा था। मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी मिला, जिस पर बैठा महावत चिल्लाया—दूर हट जाओ, यह हाथी मार डालता है। नैयायिक विद्यार्थी ने तर्क किया—हाथी पास में अवस्थित को मारता है या पास में अनवस्थित को मारता है? इतने में हाथी उस पर झपट पड़ा। महावत ने किसी प्रकार उसे छुड़ाकर बचाया। नैयायिक विद्यार्थी का यह तर्क कुतर्क था, महावत के कथन में दोष खोजने वाला या उसका खण्डन करने वाला था। उसका

जड़ आशय यह था कि हाथी तो पास में स्थित को पहले मारता है, जो पास में स्थित नहीं है, उसे कैसे मारेगा ? पर, पास में तुम (महावत) ही हो इसलिए तुम्हें ही मारेगा। नैयायिक पद्धति से यह तर्क तो उसने किया पर उसके साथ यह व्यावहारिक तथ्य नहीं सोचा कि महावत उसके समीप तो है पर सुपरिचित है, वह महावत से अनुशासित है, महावत को वह कैसे मारेगा ? इसलिए कुतर्क प्रतीतिशून्य और प्रयोजनशून्य कहा गया है।

[९२]

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽसावपि तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्गोचरो न्यायादन्यथाऽन्येन कल्पितः ॥

कुतर्क का पर्यवसान स्वभाव में होता है अर्थात् उसका अन्तिम उत्तर स्वभाव है। पर वह (स्वभाव) भी अर्वाग्दृक्--छद्मस्थ--असर्वज्ञ को ज्ञात नहीं होता। क्योंकि नैयायिक पद्धति से उसके सन्दर्भ में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएँ की जा सकती है, जो तर्क गम्य तो हो सकती है पर तथ्यपरक नहीं होतीं।

[९३]

अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बुसन्निधौ दहतीति च ।
अम्ब्वग्निसन्निधौ तत्स्वाभाव्यादित्युदिते तयोः ॥

उष्ण जल वस्तु को भिगो देता है, उसे देख, उसमें रहे अग्नि के समावेश को उद्दिष्टकर कोई कुतर्क करे कि अग्नि का स्वभाग भिगोना है; तथा उष्ण जल जला भी देता है, उसे उद्दिष्ट कर दूसरा व्यक्ति ऐसा भी कुतर्क कर सकता है कि जल जलाता है। ये दोनों ही बातें संगत नहीं है। यह जो भिगोने और जलाने की बात हुई, उसका तथ्य तो यह है कि उष्ण जल भिगोता है, वहाँ जल का भिगोने का स्वभाव कार्य करता है, तथा जहाँ वह जलाता है, वहाँ अग्नि का जलाने का स्वभाव कार्यकर है अतः वास्तव में भिगोना जल का स्वभाव है और जलाना अग्नि का। पर पूर्वोक्त रूप में कुतर्क स्वभाव विरुद्ध भी किया जा सकता है।

[९४]

कोशपानादृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः।
विप्रकृष्टोऽयस्कान्तः स्वार्थकृद् दृश्यते यतः॥

केवल शब्द कोश को पी जाना—उसे घोल जाना—तद्गम्य अर्थ को ही ठीक मानना ज्ञान का उपाय नहीं है। शब्दकोश सूचित ज्ञान युक्तिपूर्वक उपयोग में लाने से कार्यकर होता है। लोह-चुम्बक लोहे को खींचता है, यह सही है, पर वह लोहे से कुछ दूरी पर होने पर ही खींचता है, बिलकुल समीप होने पर नहीं। दूर रहने पर खींचता है, यह युक्तिसाध्य है, केवल शब्दसाध्य नहीं।

[९५]

दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र यदेवं सुलभं क्षितौ।
एतत्प्रधानतस्तर्कस्तेन स्वनीत्यापोद्यते ह्ययम्॥

इस पृथ्वी पर सर्वत्र—संगत-असंगत सभी विषयों में दृष्टान्त आसानी से प्राप्त हो जाते हैं—वैसे गढ़े जा सकते हैं। यही कारण है कि दृष्टान्त-प्रधान कुतर्क को अपनी नीति द्वारा कौन बाधित कर सकता है? अर्थात् जब सत्य, असत्य हर प्रकार के दृष्टान्त गढ़े जा सकते हैं तो उनकी रोक कैसे हो?

[९६]

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः।
निरालम्बनतां सर्वज्ञानानां साधयन् यथा॥

चन्द्रमा यद्यपि एक है पर दोषयुक्त नेत्र द्वारा दो भी दिखाई पड़ सकते हैं, इसी प्रकार स्वप्न मिथ्या है पर उसका ज्ञान तो है। यद्यपि इनका कोई आधार, आलम्बन या मूल नहीं है फिर भी इनके दृष्टान्त के सहारे कोई यह दावा कर सकता है कि जिस प्रकार असत्य या अयथार्थ होने के बावजूद इनकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार दूसरे जो भी ज्ञान हैं, प्रतीयमान हैं, वे क्यों नहीं निराधार या निरालम्बन हैं अर्थात् वे भी वैसे ही हो सकते हैं। यों दलील करने वाले को कौन रोके?

[६७]

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यदस्मादसमञ्जसम् ।
प्रतीतिबाधितं लोके तदनेन न किञ्चन ॥

कुतर्क द्वारा सब कहीं सब कुछ साध पाने का दुष्प्रयत्न किया जा सकता है। अतएव कुतर्क अयथार्थ है—कल्पित है, प्रतीति से बाधित है—कुतर्क द्वारा निरूपित या साधित बात में कोई प्रतीति नहीं करता, उसे मान्यता नहीं देता।

[६८]

अतीन्द्रियार्थसिद्धयर्थं यथालोचितकारिणाम् ।
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥

आलोचितकारी—आलोचन, चिन्तन, विमर्शपूर्वक कार्य करने वाले अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं किये जा सकते, ऐसे आत्मा, धर्म आदि पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—उस दिशा में प्रयत्नशील रहते है। ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क द्वारा गम्य नहीं हैं—ये शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं, अनुभूति एवं श्रद्धा के विषय हैं।

[६९]

गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः ।
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात् ॥

स्थूल इन्द्रियों से जिसका ग्रहण सम्भव नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय अर्थ आगम—आप्त-पुरुषों के वचन द्वारा उपलब्ध होता है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि, जिनके होने का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, ज्ञानी जनों के वचन द्वारा जाने जाते हैं। ऐसे संवादी—मेल खाने वाले, संगत उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। यद्यपि चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि आत्मा, धर्म जैसे अलौकिक अतीन्द्रिय अर्थ नहीं है, लौकिक है अतः तत्त्वतः आध्यात्मिक पदार्थों से इनकी वास्तविक संगति नहीं है पर स्थूल रूप में समझने के लिए यहाँ इनका दृष्टान्त उपयोगी है।

[१००]

एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः शीलवान् योगतत्परः।
जानात्यतीन्द्रियानर्थांस्तथा चाह महामतिः॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाला, सत् श्रद्धावान्, योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति मुनियों (पतञ्जलि आदि) ने कहा है।

[१०१]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम्॥

महर्षियों ने बताया है कि आगम, अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—यों तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है।

[१०२]

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः॥

अनेक परंपराओं में भिन्न-भिन्न नामों से जो अनेक सर्वज्ञों का स्वीकार है, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञों) में किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय-भेद नहीं है। किन्तु उन-उन सर्वज्ञों के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु, जो उनमें भेद-कल्पना करते हैं, वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है।

[१०३]

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः॥

'सर्वज्ञ' नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है, वैयक्तिक भेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र एक ही है।

[१०४]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यावताम्।
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगतिः परा॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये है, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण-सामान्यत्व के आधार पर नैयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[१०५]

विशेषेषु पुनरतस्य कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही, उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है, ऐसी आशका भी संगत नही है। क्योंकि असर्वदर्शी या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है, अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है, जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो, उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[१०६]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि।
निर्व्याजं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम्॥

अतः सामान्यतः भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या बनाव के बिना मान्य करते है, उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस, अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा बिना किसी बनाव-दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, सच्चे भाव से उनकी आज्ञा, प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं, वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो हैं।

[१००]

एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः शीलवान् योगतत्परः ।
जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः ॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाला, सत् श्रद्धावान्, योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति मुनियों (पतञ्जलि आदि) ने कहा है।

[१०१]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥

महर्षियों ने बताया है कि आगम, अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—यों तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है।

[१०२]

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां तद्भेदाश्रयणं ततः ॥

अनेक परंपराओं में भिन्न-भिन्न नामों से जो अनेक सर्वज्ञों का स्वीकार है, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञों) में किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय-भेद नहीं है। किन्तु उन-उन सर्वज्ञों के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु, जो उनमें भेद-कल्पना करते हैं, वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है।

[१०३]

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि ।
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

'सर्वज्ञ' नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है, वैयक्तिक भेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र एक ही है।

[१०४]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यावताम् ।
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगतिः परा ॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये हैं, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण-सामान्यत्व के आधार पर नैयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[१०५]

विशेषेषु पुनरतस्य कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः।
सर्वैर्न ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही, उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है, ऐसी आशंका भी संगत नही है। क्योंकि असर्वदर्शी या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है, अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है, जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो, उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[१०६]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि।
निर्व्याजं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम्॥

अतः सामान्यतः भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या वनाव के विना मान्य करते हैं, उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस, अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा विना किसी बनाव-दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, सच्चे भाव से उनकी आज्ञा, प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं, वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो है।

[१०७]

यथैवैकस्य नृपतेर्बहवोऽपि समाश्रिताः।
दूरासन्नादिभेदेऽपि तद्भृत्या सर्व एव ते॥

जैसे एक राजा के यहाँ रहने वाले अनेक नौकर-चाकर होते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न कार्यों की दृष्टि से कोई दूर होते हैं, कोई निकट होते हैं, कोई कहीं होते हैं, कोई कहीं। दूरी, निकटता आदि भेद के बावजूद वे सभी सेवक तो राजा के ही हैं।

[१०८]

सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन तथा सर्वज्ञवादिनः।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया भिन्नाचार स्थिता अपि॥

सर्वज्ञ तत्त्व में कोई भेद नहीं है। अतः सभी सर्वज्ञ कहे जाने वाले आप्त पुरुष भिन्न-भिन्न आचार में स्थित होते हुए भी सर्वज्ञतत्त्वोपेत है।

[१०९]

न भेद एव तत्त्वेन सर्वज्ञानां महात्मनाम्।
तथा नामादि भेदेऽपि भाव्यमेतन्महात्मभिः॥

नाम आदि बाह्य भेद रहते हुए भी महान् आत्मा सर्वज्ञों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, ऐसा उदारचेता पुरुषों को समझना चाहिए।

[११०]

चित्राचित्रविभागेन यच्च देवेषु वर्णिता।
भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु ततोऽप्येवमिदं स्थितम्॥

शास्त्रों में देवभक्ति दो तरह की बतलाई गई है—चित्र—भिन्न-भिन्न प्रकार की तथा अचित्र—अभिन्न, भिन्न-भिन्न प्रकार की न होकर एक ही प्रकार की। इससे भी पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

[१११]

संसारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्कायगामिनाम्।
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीतार्थयायिनाम्॥

जो संसारी देवों की गति में जाने वाले होते हैं, वे लोकपाल आदि संसारी देवों की भक्ति करते हैं। जो योगीजन संसार से अतीत परम तत्त्व को स्वायत्त करने का भाव लिये होते हैं, मुमुक्षु भाव रखते हैं, उनकी संसार से अतीत—संसार के पारगामी—मुक्त एवं सर्वज्ञ देवों के प्रति भक्ति होती है।

[११२]

चित्रा चाद्येषु तद्रागतदन्यद्वेषसङ्गता।
अचित्रा चरमे त्वेषा शमसाराखिलैव हि॥

पहली चित्रा नामक भक्ति में, जो सांसारिक देवों के प्रति होती है, भक्त अपने इष्टदेव के प्रति राग तथा अनिष्ट देव के प्रति द्वेष रखते हैं। यों राग-द्वेषात्मकता लिये वह भिन्न-भिन्न प्रकार ही होती है। चरम—संसार से अतीत तत्त्व—मुक्तात्मा के प्रति जो भक्ति होती है; वह शम—शान्त भाव की प्रधानता लिये रहती है। वह अचित्रा—अभिन्न—भिन्नता या भेद रहित है।

[११३]

संसारिणां हि देवानां यस्माच्चित्राण्यनेकधा।
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यैः स्थानानि प्रतिशासनम्॥

सांसारिक देवों के स्थान—पद, स्थिति, ऐश्वर्य तथा प्रभाव आदि के कारण प्रत्येक धार्मिक परम्परा में भिन्न-भिन्न है।

[११४]

तस्मात्तत्साधनोपायो नियमाच्चित्र एव हि।
न भिन्ननगराणां स्यादेकं वर्त्म कदाचन॥

इस कारण उन सांसारिक देवों की आराधना व भक्ति के प्रकार नियमतः भिन्न-भिन्न ही होते है। भिन्न-भिन्न नगरों को जाने का एक ही मार्ग कदापि नहीं होता।

[११५]

इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः ।
नानाफलानि सर्वाणि द्रष्टव्यानि विचक्षणैः ॥

जो सुयोग्य पुरुष यह समझे--जो इष्टापूर्त कर्म हैं, वे संसार में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से किये जाते हैं। अतः उनके फल भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

[११६]

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः ।
अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥

ऋत्विजों—यज्ञ में अधिकृत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रसंस्कारपूर्वक अन्य ब्राह्मणों की उपस्थिति में वेदी के भीतर--वेदी-क्षेत्र के अन्तर्गत जो विधिवत् दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहा जाता है।

[११७]

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥

वावड़ी, कूए, तालाव तथा देवमन्दिर बनवाना, अन्न का दान देना पूर्त है, ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं, कहते हैं।

[११८]

अभिसन्धेः फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि ।
परमोऽतः स एवेह वारीव कृषिकर्मणि ॥

अनुष्ठान के समान होने पर भी अभिसन्धि--अभिप्राय या आशय के भिन्न होने पर फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अतः जैसे खेती में जल प्रधान है, उसी प्रकार फलसिद्धि में अभिप्राय की प्रधानता है।

[११९]

रागादिभिरयं चेह भिद्यतेऽनेकधा नृणाम् ।
नानाफलोपभोक्तृणां तथा बुद्धयादिभेदतः ॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के फलोपभोग की वाञ्छा लिये पुरुषों के बुद्धि-भेद—अपने-अपने बोध या समझ के भेद के अनुरूप राग, मोह, द्वेष आदि के कारण निष्पन्न अभिसन्धि या अभिप्राय का फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

[१२०]

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो बोध इष्यते ।
तद्भेदात् सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥

बुद्धि, ज्ञान तथा असंमोह—यों बोध तीन प्रकार का कहा गया है। बोध-भेद के कारण सब प्राणियों के समस्त कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

[१२१]

इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहोऽभिधीयते ॥

बुद्धि इन्द्रियों द्वारा जाने जाते पदार्थों पर आश्रित है—इन्द्रियगम्य पदार्थ बुद्धि के विषय हैं। उन द्वारा जो बोध होता है, वह बुद्धि है। जो आगम—शास्त्र या श्रुत द्वारा बोध उत्पन्न होता है, वह ज्ञान है। प्राप्त ज्ञान के अनुरूप सत् अनुष्ठान—सत्प्रवृत्ति या सद्आचरण करना असंमोह है। अर्थात् सद्ज्ञान तब असंमोह कहा जाता है, जब वह क्रियान्विति पा लेता है। वह सर्वोत्तम बोध है।

[१२२]

रत्नोपलम्भतज्ज्ञानतत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यादिसिद्धये ॥

आँखों द्वारा देखकर यह रत्न है, ऐसा समझना बुद्धि है। रत्न के लक्षण आदि का निरूपण करने वाले शास्त्र के आधार पर उसे विशेष रूप से जानना, उसके लक्षण, स्वरूप आदि को स्वायत्त करना ज्ञान है। यों उस ज्ञान से रत्न के निश्चित स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करना, उपयोग में लेना असंमोह है। इन्द्रियों द्वारा पहचान एवं शास्त्र द्वारा ज्ञान कर

लेने तथा ग्रहण कर लेने के बाद संमोह या भ्रम नहीं रहता। इसलिए क्रियान्वयनपूर्वक ज्ञान की परिष्कृत अवस्था को असंमोह कहा गया है।

[१२३]

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥

१. आदर—क्रिया के प्रति आदर, सुयत्न, उपयोगपूर्वक क्रिया करना,

२. प्रीति—क्रिया के प्रति आन्तरिक अभिरुचि, सरसता,

३. अविघ्न—निर्विघ्नता, पूर्वार्जित पुण्यवश निर्बाधरूप में क्रिया करना,

४. सम्पदागम—सम्पत्ति—धन, वैभव आदि द्रव्य-सम्पत्ति तथा विद्या विनय, विवेक, शील, वैराग्य आदि भाव-सम्पत्ति का प्राप्त होना,

५. जिज्ञासा—जानने की तीव्र उत्कण्ठा रखना,

६. तज्ज्ञ सेवा—ज्ञानी पुरुषों की सेवा करना,

७. तज्ज्ञ-अनुग्रह—ज्ञानी जनों की कृपा पाना,

ये सदनुष्ठान के लक्षण हैं।

[१२४]

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम् ।
संसारफलदान्येव विपाकविरसत्वतः ॥

यहाँ संसार में सामान्यतः प्राणियों के सभी कर्म बुद्धि—इन्द्रियजनित बोध द्वारा होते हैं। विषयप्रधान वे विपाकविरस—परिणाम में नीरस—असुखद हैं। उनका फल संसार—जन्म-मरण के चक्र में भटकना है।

[१२५]

ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम् ।
श्रुतशक्तिसमावेशादनुबन्धफलत्वतः ॥

ज्ञानपूर्वक किये गये वे ही कर्म कुलयोगियों के लिए मुक्ति के अंग हैं। आप्त वचन रूप शास्त्रशक्ति—आगम ज्ञान की शक्तिमत्ता के समावेश के कारण ये शुभ फलप्रद सिद्ध होते हैं।

[१२६]

असंमोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।
निर्वाणफलदान्याशु भवातीतार्थयायिनाम् ॥

असंमोह से निष्पन्न होने वाले—किये जाने वाले वे ही कर्म एकान्तरूप से परिशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध होने के कारण संसार से अतीत पदार्थ—परम पद, परम तत्त्व का साक्षात्कार करने को समुद्यत—परम तत्त्ववेदी जनों के लिए मोक्षरूप फल देने वाले होते हैं।

[१२७]

प्राकृतेष्विह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम् ।
भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयायिनः ॥

प्राकृत भावों—शब्द, रूप, रस आदि सांसारिक विषयों में जिनका चित्त उत्सुकता रहित है, उदासीन है, जो सांसारिक भोगों से विरक्त है, वे भवातीतार्थयायी—संसारातीत अर्थगामी—परम तत्त्ववेदी कहे जाते हैं।

[१२८]

एक एव तु मार्गोऽपि तेषां शमपरायणः ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत् ॥

अवस्था-भेद के बावजूद उनका शम—निष्कषाय आत्मपरिणति, प्रशान्त भाव, या साम्यप्रधान मार्ग एक ही है। जैसे समुद्र में मिलने वाले सभी मार्ग तटमार्ग हैं, भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने के बावजूद उनका उद्दिष्ट एक ही है, यों वे एकरूपता लिये हुए हैं।

[१२९]

संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्ध्येकमेव नियमाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

संसार से अतीत परम तत्त्व निर्वाण कहा जाता है। शाब्दिक भेद होते हुए भी वह तात्त्विक दृष्टि से निश्चित रूपेण एक ही है।

[१३०]

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथातेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्थादेकमेवैवमादिभिः ॥

सदाशिव, पर ब्रह्म, सिद्धात्मा, तथाता आदि शब्दों द्वारा उसका कथन किया जाता है पर तात्पर्य की दृष्टि से वह एक ही है। सदाशिव—सब समय कल्याणरूप—मंगलरूप, परं ब्रह्म—आत्मगुणों के अत्यन्त वृद्धिगत परम विकास के कारण महाविशाल, सिद्धात्मा—विशुद्ध आत्म-सिद्धि प्राप्त एवं तथाता—सदा एक जैसे शुद्ध सहजात्म-स्वरूप में संस्थित—यों यथार्थतः उसमें कोई भेदात्मकता नहीं है।

[१३१]

तल्लक्षणाविसंवादान्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥

विभिन्न नामों से कथित परम तत्त्व का वही लक्षण है, जो निर्वाण का है अर्थात् वे एक ही हैं। वह परमतत्त्व निराबाध—सब बाधाओं से रहित—अव्याबाध, निरामय—देहातीत होने के कारण द्रव्यरोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के कारण राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव-रोगों से रहित—परम स्वस्थ, निष्क्रिय—सब कर्मों का, कर्म-हेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित—कृत-कृत्य है। जन्म, मृत्यु आदि का वहाँ सर्वथा अभाव है।

[१३२]

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥

इस निर्वाण-तत्त्व को असंमोह द्वारा सर्वथा जान लेने पर विचार-शील, विवेकशील पुरुषों के लिए उसकी आराधना में कोई विवाद घटित नहीं होता।

[१३३]

सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यत् स्थितम् ।
आसन्नोऽयमृजुर्मार्गस्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् ॥

निर्वाण नियमतः सर्वज्ञपूर्वक है—सर्वज्ञता प्राप्त किये विना निर्वाण नहीं सधता। यों सर्वज्ञता का निर्वाण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञता निर्वाण से पूर्ववर्ती अविनाभावी स्थिति है। निर्वाण का सन्निकटवर्ती यह सर्वज्ञरूप मार्ग बिलकुल सरल—सीधा है। फिर उसमें भेद कैसे हो ?

[१३४]

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः ।
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥

सर्वज्ञों की भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना—धर्मोपदेश शिष्यों की अनुकूलता को लेकर है। क्योंकि ये महापुरुष संसार रूप व्याधि को मिटाने वाले वैद्य हैं। अतः शिष्यों के जीवन-परिष्कार हेतु, उन्हें भावात्मक दृष्टि से नीरोग बनाने के लिए जैसा अपेक्षित हो, धर्मोपदेश करते हैं, उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं।

[१३५]

यस्य येन प्रकारेण बीजाधानादिसम्भवः ।
सानुबन्धो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥

जिस प्रकार किसी विशेष पौधे को उगाने के लिए भूमि में एक विशेष प्रकार की खाद देनी होती है, उसी प्रकार जिस शिष्य की चित्तभूमि में सम्यक् बोध रूप बीज का जिस प्रकार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रोपण, संवर्धन आदि हो, उसे उसी प्रकार का उपदेश देते हैं।

[११६]

एकाऽपि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्राऽवभासते ॥

अथवा सर्वज्ञों की देशना एक होते हुए भी अपने अचिन्त्य—जिसे सोचा तक नहीं जा सकता, (ऐसे) असीम पुण्य-सामर्थ्य के कारण भिन्न-भिन्न श्रोताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की अवभासित—प्रतीत होती है।

[१३७]

यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्कृतः ।
जायतेऽवन्ध्यताऽप्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥

यों भिन्न-भिन्न रूप में अवभासित होती हुई सर्वज्ञ-देशना से सब श्रोताओं का अपने भव्यत्व के अनुरूप उपकार होता है। इससे उस (देशना) की सार्वत्रिक अनिष्फलता—फलवत्ता सिद्ध होती है।

[१३८]

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥

अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों की अपेक्षा से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना ऋषियों से प्रवृत्त हुई। पर वस्तुतः उनके मूल में सर्वज्ञ-देशना ही है। अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से ऋषियों ने लोकोपकार की भावना से एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्यात किया। इससे तत्त्व में, तत्त्व-देशना में भिन्नता नहीं आती, केवल निरूपण की शैली में भिन्नता है।

[१३९]

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥

उन (सर्वज्ञों) के अभिप्राय को (सर्वथा) न जानते हुए उनकी देशना का प्रतिक्षेप—विरोध करना अर्वाकदृक्—छद्मस्थ—असर्वज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है। वैसा करना महाअनर्थकारी है।

[१४०]

निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानामसंगतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥

अन्धे यदि चन्द्र का निषेध करें—उसका अस्तित्व स्वीकार न करें अथवा उसमें भेद-परिकल्पना करें—उसे अनेक प्रकार का—बांका, टेढ़ा, चतुष्कोण, गोल आदि बताएँ तो यह असंगत है। उसी प्रकार छद्मस्थ सर्वज्ञ का निषेध करें, उनमें भेद-कल्पना करें, यह अयुक्तियुक्त है।

[१४१]

न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्यापि तत्सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाछेदाधिको यतः ॥

सत्पुरुषों के लिए सामान्य व्यक्ति का भी विरोध, खण्डन या प्रतिकार करना उपयुक्त नहीं है, श्रद्धास्पद सर्वज्ञों का अपवाद करना, विरोध करना, प्रतिकार करना तो उन्हें जिह्वाच्छेद से भी अधिक कष्टकर प्रतीत होता है।

[१४२]

कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।
निश्चितं सारवच्चैव किन्तु सत्त्वार्थकृत् सदा ॥

सत्पुरुष असद्दृष्टि आदि अवगुण युक्त लोगों की तरह कहीं कुत्सित वचन नहीं बोलते। वे निश्चित—सन्देहरहित, सारयुक्त तथा प्राणियों के लिए हितकर वचन बोलते हैं।

[१४३]

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च ।
अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किंचन ॥

सर्वज्ञ आदि इन्द्रियातीत पदार्थ का निश्चय योगिज्ञान—योग द्वारा लब्ध साक्षात् ज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ के विषय में अन्धों जैसे छद्मस्थ जनों के विवाद से क्या प्रयोजन सधे?

[१४४]

न चानुमानविषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मतः ।
न चातो निश्चयः सम्यगन्यत्राप्याह धीधनः ॥

यह (सर्वज्ञरूप अर्थ) तत्त्वतः अनुमान का विषय भी नहीं माना गया है। यह तो अतीन्द्रिय विषय है, सामान्य विषय में भी अनुमान से सम्यक्— यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। परम मेधावी (भर्तृहरि) ने भी ऐसा कहा है।

[१४५]

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(भर्तृहरि का कथन) अनुमाताओं—अनुमानकारों द्वारा यत्नपूर्वक— युक्तिपूर्वक अनुमित—अनुमान द्वारा सिद्ध किये हुए अर्थ को भी दूसरे प्रबल युक्तिशाली—प्रखर तार्किक अनुमाता दूसरे प्रकार से सिद्ध कर डालते हैं।

[१४६]

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

यदि युक्तिवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता तो बुद्धिशाली तार्किकजन इतने दीर्घकाल में उन (अतीन्द्रिय पदार्थों) के सम्बन्ध में अवश्य निश्चय कर पाते। पर आज तक ऐसा हो नहीं पाया। अतीत की तरह आज भी उन विषयों में वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन उसी तीव्रता से चलता है।

[१४७]

न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

इस सन्दर्भ में ऐसी स्थिति नहीं है अर्थात् युक्तिवाद या हेतुवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निश्चय नहीं हो पाता। अतः मोक्षार्थियों के लिए विस्तीर्ण शुष्क तर्क ग्रह—नीरस या सारहीन तर्क की पकड़ अथवा विकराल तर्क रूपी अनिष्ट ग्रह या प्रेत या मगरमच्छ छोड़ने योग्य है। क्योंकि वह मिथ्या अभिमान का हेतु है।

[१४८]

ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसंगतः ।
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्या किमनेन तत् ॥

मोक्षार्थियों को वास्तव में कहीं भी ग्रह—पकड़ रखना असंगत है—समुचित नहीं है। मुक्तावस्था में तो प्राय: क्षायोपशमिक धर्म भी—कर्मों के क्षय और उपशम से निष्पन्न क्षमा, शील आदि धर्म भी छोड़ देने पड़ते हैं। वहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभाव-मूलक क्षायिक धर्मों की ही अवस्थिति होती है। फिर तुच्छ अनिष्ट ग्रह की तो बात ही क्या!

[१४९]

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विचक्षणैः ।
वर्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितैः ॥

सुयोग्य आत्मार्थी पुरुषों को चाहिए, वे महापुरुषों के पथ का—जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं, जिसका महापुरुषों ने निर्देश किया है, ऐसे मार्ग का अवलम्बन कर यथाविधि उस पर गतिमान् रहे, उसका उल्लंघन न करें, उसके विपरीत न चलें।

[१५०]

परपीडेह सूक्ष्माऽपि वर्जनीया प्रयत्नतः ।
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि ॥

महापुरुषों का मार्ग है—

साधक का यह प्रयास रहे कि उसकी ओर से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुँचे। उसी प्रकार उसे सदा दूसरों का उपकार करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

[१५१]

गुरवो देवता विप्रा यतयश्च तपोधना ।
पूजनीया महात्मानः सुप्रयत्नेन चेतसा ॥

गुरु, देवता, ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी साधु—ये सत्पुरुष प्रयत्न युक्त चित्त से—तन्मयता तथा श्रद्धापूर्वक पूजनीय—सम्मान करने योग्य—सत्कार करने योग्य हैं।

[१५२]

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम् ।
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः ॥

मुमुक्षु पुरुषों में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा या दया का भाव रहे, यह तो है ही पर अपने कुत्सित कर्मों द्वारा निहत—अत्यन्त पीड़ित पापी प्राणियों के प्रति भी वे अनुकम्पाशील हों, यह न्यायोचित—अपेक्षित है।

यों पर-पीड़ावर्जन, परोपकारपरायणता, गुरु, देव, ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा यतिजन का सत्कार, पापी जीवों पर भी अनुकम्पा-भाव—साधक द्वारा जीवन में इनका क्रियान्वयन उत्तम धर्म है।

[१५३]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना ।
तत्पुनः पञ्चमी तावद्योगदृष्टिर्महोदया ॥

प्रसंगवश ऊपर जो कहा गया है, वह पर्याप्त है। अब मूलतः चालू विषय को प्रस्तुत करते हैं। वह (चालू विषय) पाँचवीं स्थिरा-दृष्टि है, जो आत्मा के महान् उदय—परम उत्थान से सम्बद्ध है।

स्थिरा दृष्टि

[१५४]

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।
कृतमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

स्थिरा-दृष्टि में दर्शन नित्य—अप्रतिपाती—नहीं गिरने वाला होता है, प्रत्याहार—स्व-स्व-विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियों का चित्त-

स्वरूपानुकार[1] सधता है तथा साधक द्वारा किये जाते कृत्य—क्रियाकलाप भ्रान्ति रहित, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध युक्त होते हैं।

स्थिरा-दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार एवं सातिचार। निरतिचार दृष्टि अतिचार, दोष या विघ्न वर्जित होती है। उसमें होने वाला दर्शन नित्य—प्रतिपात रहित होता है, एक सा अवस्थित रहता है। सातिचार दृष्टि अतिचार सहित होती है, अतः उसमें होने वाला दर्शन अनित्य—न्यूनाधिक होता है, एक सा अवस्थित नहीं रहता।

स्थिरा-दृष्टि को रत्नप्रभा की उपमा दी गई है। निर्मल रत्नप्रभा—रत्नज्योति जैसे एक सी देदीप्यमान रहती है, उसी प्रकार निरतिचार स्थिरा दृष्टि में दर्शन अनवच्छिन्न, निर्बाध या सतत दीप्तिमय रहता है। रत्न पर यदि मल आदि लगा होता है तो उसकी चमक बीच-बीच में रुकती रहती है, एक सी नहीं रहती, न्यूनाधिक होती रहती है, सातिचार स्थिरा-दृष्टि की वैसी ही स्थिति है। अतिचार या किञ्चित् दूषितपन के कारण दर्शन में कुछ-कुछ व्याघात होता रहता है। ऐसा होते हुए भी जैसे मलयुक्त रत्न की प्रभा मूलतः मिटती नहीं, उसकी मौलिक स्थिरता विद्यमान रहती है, उसी तरह सातिचार स्थिरा-दृष्टि में जो रुकावट या दर्शन-ज्योति की न्यूनाधिकता होती है, वह कादाचित्क है। मूलतः इस (स्थिरा) दृष्टि की दर्शनगत स्थिरता व्याहत नहीं होती।

[१५५]

बाल धूलीगृह क्रीडा तुल्याऽस्यां भाति धीमताम्।
तमोग्रन्थिविभेदेन भवचेष्टाऽखिलैव हि॥

इस (पाँचवीं स्थिरा) दृष्टि को प्राप्त सम्यग्दृष्टि पुरुष के अज्ञानान्धकारमय ग्रन्थि का विभेद हो जाता है—बाँस की गाँठ जैसी कठोर, कर्कश, सघन तथा गूढ़ तमोग्रन्थि इसमें टूट जाती है अतः प्रज्ञाशील साधकों को

---

१. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
—पातञ्जल योग सूत्र २·५४

समग्र सांसारिक चेष्टा—क्रिया-प्रक्रिया बालकों द्वारा खेल में बनाये जाते घर जैसी प्रतीत होती है। बालक खेल में मिट्टी के घरों को बनाते हैं, जिन्हें थोड़ी देर में वे छिन्न-भिन्न कर देते हैं, उसी तरह सम्यग्दृष्टि प्रबुद्ध जनों को संसार की क्षणभंगुरता, अस्थिरता प्रतीत होने लगती है। उसमें वे आसक्त नहीं होते।

[१५६]

मायामरीचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निमान् ।
वाह्यान् पश्यति तत्त्वेन भावान् श्रुतविवेकतः ॥

इस स्थिति को प्राप्त योगी, जिसका शास्त्रप्रसूत विवेक जागरित होता है, देह, घर, परिवार, वैभव आदि बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्व नगर—ऐन्द्रजालिक द्वारा मायाजाल के सहारे आकाश में प्रदर्शित नगर तथा दृष्ट स्वप्न—जो सर्वथा मिथ्या एवं कल्पित हैं, जैसा देखता है। उसे सांसारिक भावों की अयथार्थता का सत्य दर्शन—सम्यक् बोध हो जाता है।

[१५७]

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।
यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥

इस जगत् में परम—सर्वोत्तम तत्त्व अन्तरतम में देदीप्यमान ज्ञान रूप ज्योति ही है, जो निराबाध—बाधा, पीड़ा या विघ्न रहित तथा अनामय—रोग रहित—दोष रहित या भावात्मक नीरोगता युक्त है। उसके अतिरिक्त बाकी सब उपप्लव—संकट, आपत्ति, विघ्न या भय है।

[१५८]

एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

इस प्रकार स्व-पर-भेद-ज्ञान-प्राप्त विवेकी धीर पुरुष प्रत्याहार-परायण होते हैं और वे धर्मबाधा—धर्माराधना में आने वाली बाधाओं के परित्याग में प्रयत्नशील रहते हैं।

[१५९]

न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम् ।
तथा पापसखा लोके देहिनां भोगविस्तर: ॥

जैसे बुद्धिमान्—विवेकशील पुरुषों के लिए अलक्ष्मी की सहेली लक्ष्मी—वह लक्ष्मी, जिसके साथ अलक्ष्मी रहती है अथवा वह लक्ष्मी, जिसकी परिणति अलक्ष्मी में होती है, आनन्दप्रद नहीं होती—वे उसे कभी आनन्ददायक नहीं मानते, क्योंकि उसके साथ दु:ख जो जुड़ा है। इसी तरह भोग-विस्तार, जो पाप का मित्र है, जिसके साथ पाप लगा है, जिसकी फल-निष्पत्ति पाप में है, प्राणियों के लिए आनन्दप्रद नहीं होता।

[१६०]

धर्मादपि भवन् भोग: प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।
चन्दनादपि संभूतो दहत्येव हुताशन: ॥

धर्म से भी उत्पन्न भोग प्राणियों के लिए प्राय: अनर्थकर ही होता है। जैसे चन्दन से भी उत्पन्न अग्नि जलाती ही है।

[१६१]

भोगात्तदिच्छाविरति: स्कन्धभारापनुत्तये ।
स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानत: ॥

भोगों को छककर भोग लेने से स्वयं इच्छा मिट जायेगी, यह सोचना वैसा ही है, जैसा किसी भारवाहक द्वारा अपने एक कन्धे पर लदे भार को दूसरे कन्धे पर रखा जाना।

वस्तुस्थिति यह है, भोग भोगने से इच्छा विरत नहीं होती क्योंकि एक भोग भोगने के बाद दूसरे प्रकार के भोग से इच्छा जुड़ जाती है, व्यक्ति उसमें लग जाता है, उसके अनन्तर किसी तीसरी में, फिर चौथी में—यों भोगक्रम चलता ही रहता है। जिस प्रकार भारवाहक के एक कन्धे का भार दूसरे पर चला जाता है, मूलत: भार तो जाता नहीं, वैसी ही बात भोगी के साथ है। उसकी भोग वाञ्छा मिटती नहीं, अनवरत भोगलिप्तता बनी रहती है क्योंकि उसके भौगिक संस्कार विद्यमान हैं, वासना छूटी नहीं।

कान्ता-दृष्टि

[१६२]

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदया ॥

कान्ता-दृष्टि में पूर्व वर्णित नित्य-दर्शन—अविच्छिन्न सम्यक्दर्शन आदि विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि में स्थित योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि उसके सम्यक्दर्शन आदि सद्गुण औरों के लिए सहजतया प्रीतिकर होते हैं, औरों के मन में उसे देख द्विष्ट भाव नहीं आता, प्रीति उमड़ती है।

यहाँ योगी के धारणा—नामक छठा योगांग, जिसका तात्पर्य चित्त को नाभिचक्र, हृदयकमल आदि शरीर के आभ्यन्तर या सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य स्थान में लगाना है,[1] सधता है। यों धारणानिष्ठ हो जाने पर योगी को अन्यत्र—आत्मरमण के अतिरिक्त अन्य विषयों में मोद या हर्ष नहीं होता—वह जरा भी उनमें रस नहीं लेता।

सूक्ष्मबोध उसे पूर्वतन दृष्टि में प्राप्त हो चुका होता है, वह इसमें चिन्तन, मनन, निदिध्यासनमूलक मीमांसा करता है, सद्विचारणा में तल्लीन रहता है, जिसकी फलनिष्पत्ति आत्मा के उत्कर्ष में होती है।

इस दृष्टि का नाम कान्ता अनेक अपेक्षाओं से संगत है। कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता नारी है। पतिव्रता नारी घर के सभी कार्य करती है पर उसका मन प्रतिक्षण अपने पति में रहता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित योगी का चित्त कर्त्तव्यवश सांसारिक कार्य करते हुए भी श्रुत-धर्म में—अध्यात्म में लीन रहता है। अथवा इस दृष्टि में स्थित योगी सभी को बड़ा कान्त—प्रिय लगता है, इसलिए इसे कान्ता कहा जाना उपयुक्त है। अथवा यह दृष्टि योगीजनों को बड़ी कान्त—प्रीतिकर—प्रिय है, अतः इसे कान्त नाम से अभिहित किया गया है।

---

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

—पातंजल योगसूत्र ३-१

[१६३]

अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात् समाचारविशुद्धितः ।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी धर्म की महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सब प्राणियों का प्रिय होता है—सब जीवों को वह प्रीतिकर प्रतीत होता है। उसका मन धर्म में एकाग्र—तन्मय हो जाता है।

[१६४]

श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्यान्यचेष्टिते ।
अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ॥

इस दृष्टि वाला योगी आत्मधर्म की इतनी दृढ़ भावना लिए होता है कि चाहे वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगा हो पर उसका मन सदा सद्गुरुजन से सुने हुए, सीखे हुए आगम में तल्लीन रहता है। वह योगी सदा आक्षेपक—सहज स्वभाव की ओर आकृष्ट करने वाले ज्ञान से युक्त होता है—एक ऐसी दिव्य ज्ञानानुभूति उसे रहती है, जिससे अनुप्राणित होता हुआ वह सतत सहजावस्था—आत्मभाव की ओर खिंचा रहता है। अतः अनासक्त भाव से भोगे जाते सांसारिक भोग उसके लिए भवहेतु—संसार के कारण—जन्म-मरण के चक्र में भटकाने वाले नहीं होते।

[१६५]

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवर्जितः ॥

जो पुरुष मृगमरीचिका के जल को वस्तुतः जानता है—उसके मिथ्या कल्पित अस्तित्व को समझता है, वह जरा भी उद्विग्न हुए बिना—घबराये बिना निर्विघ्नतया उसके बीच से चला जाता है। अर्थात् जल तो वहाँ है नहीं, केवल भ्रम है। जो उसकी यथार्थता समझ लेता है, वह भ्रान्त नहीं होता, अतः भयभीत भी नहीं होता। भय का कोई कारण भी तो वहाँ नहीं है। भय तो केवल भ्रान्तिजन्य है।

[१६६]

भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥

वह साधक भोगों को मृगमरीचिका के जल की तरह मिथ्या, असार और कल्पित देखता है, जानता है। अनासक्त भाव से उन्हें भोगता हुआ भी वह परम पद की ओर अग्रसर होता जाता है।

[१६७]

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोदधिलंघनम् ।
मायोदकदृढावेशस्तेन यातीह कः पथा ॥

जो पुरुष भोगों को तात्त्विक, वास्तविक, परमार्थरूप मानता है, वह संसार-समुद्र को लाँघ नहीं सकता। जिसे मृगमरीचिका के जल में दृढ़ आवेश—अभिनिवेश या आग्रहपूर्ण निश्चय है—जो उसे सचमुच जल मानता है, किस मार्ग से वह वहाँ जाए अर्थात् मिथ्याभिनिवेश के कारण वह उसे पार करने को उद्यत नहीं होता।

[१६८]

स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयम् ।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा भोगजम्बालमोहितः ॥

पूर्वोक्त कथन के अनुसार जो मृगमरीचिका के जल को वास्तविक जल मानता है, वह संसार में उद्वेग—दुःख पाता हुआ निश्चित रूप से वहीं टिका रहता है। जब माया-जल को यथार्थतः जल मानता है, तो उसे पार कैसे करे? उसे भय बना रहता है—वैसा करने पर वह कहीं डूब न जाए। यही स्थिति मोक्षमार्ग में है। जो पुरुष भोगों के कीचड़ में मोहित है, फँसा है, मोक्ष-मार्ग में उसका प्रवेश, गति कैसे हो?

[१६९]

मीमांसाभावतो नित्यं न मोहोऽस्यां यतो भवेत् ।
अतस्तत्त्वसमावेशात् सदैव हि हितोदयः ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक तत्त्वचिन्तन, तत्त्वमीमांसा में निरन्तर लगा रहता है। इसलिए वह मोहव्याप्त नहीं होता--वह मोहमूढ़ नहीं बनता। तत्त्व-समावेश—तत्त्वज्ञान—यथार्थ अवबोध के प्राप्त हो जाने के कारण सदैव उत्तरोत्तर उसका हित—श्रेयस् सधता जाता है।

प्रभा-दृष्टि

[१७०]

ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि ।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्प्रवृत्तिपदावहा ॥

प्रभा दृष्टि प्रायशः ध्यानप्रिय है। इसमें संस्थित योगी प्रायः ध्यान निरत रहता है अर्थात् इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान – ध्येय में प्रत्ययैकतानता[1]—चित्तवृत्ति का एकाग्र भाव सधता है। राग, द्वेष, मोह रूप त्रिदोष जन्य भाव-रोग यहाँ बाधा नहीं देते। दूसरे शब्दों में, राग-द्वेष-मोहात्मक प्रवृत्ति, जो आत्मिक स्वस्थता में बाधक होती है, यहाँ उभार नहीं पाती। तत्त्व मीमांसक योगी यहाँ ऐसी स्थिति पा लेता है, जिसमें उसे तत्त्वानुभूति प्राप्त होती है। सहजतया सत्प्रवृत्ति की ओर उसका झुकाव रहता है।

[१७१]

ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम् ।
विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि ॥

इस दृष्टि में ध्यानजनित सुख अनुभूत होता है, जो काम के साधनों —रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों को जीतने-वाला है। वह ध्यान—प्रसूत सुख विवेक के बल—उदग्रता—तीव्रता से उद्‌भूत होता है। उसमें प्रशान्त भाव की प्रधानता रहती है।

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.२

[१७२]

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

परवशता—परतन्त्रता में सर्वथा दुःख है तथा आत्मवशता—आत्मतन्त्रता—स्वतन्त्रता में सर्वथा सुख है । संक्षेप में यह सुख तथा दुःख का लक्षण है ।

[१७३]

पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम् ।
ततश्च दुःखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥

पुण्य की अपेक्षा रखने वाला—पुण्योदय से होने वाला सुख भी परतन्त्र है । पुण्य शुभकर्म पुद्गलात्मक है, आत्मा से भिन्न है, पर है । उस पर आश्रित सुख सर्वथा परवशता लिये हुए होता है । वास्तव में वह दुःख है क्योंकि दुःख का लक्षण परवशता है ।

पुण्य भी बन्धन है । पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की । बेड़ी चाहे लोहे की हो या सोने की, है तो बेड़ी ही । बाँधे रखने के कारण दोनों ही कष्टप्रद हैं । इसके अतिरिक्त इतना और समझने योग्य है, जब तक पुण्य का संयोग है, पुण्यबन्ध है, संसार-बन्धन चालू रहता है, वस्तुतः जो दुःखमय है ।

[१७४]

ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम् ।
क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ॥

बोध के निर्मल होने पर महान् साधकों के सदैव ध्यान सधता रहता है । जिस सोने का मैल निकाल दिया गया हो, वह सोना सदा कल्याण—उत्तम—विशुद्धि लिए होता है । कहीं-कहीं नाम से भी उसे कल्याण कहा जाता है ।

[१७५]

सत्प्रवृत्तिपदं चेहासङ्गानुष्ठानसञ्ज्ञितम् ।
महापथप्रयाणं यदनागामि पदावहम् ॥

पीछे जो सत्-प्रवृत्ति-पद कहा गया है, उसकी असंगानष्ठान संज्ञा है। अनुष्ठान चार प्रकार का माना गया है—१. प्रीति-अनुष्ठान, २. भक्ति-अनुष्ठान, ३. वचन-अनुष्ठान तथा ४. असग-अनुष्ठान। समग्र प्रकार के संग—आसक्तता या संस्पर्श रहित विशुद्ध आत्मानुचरण असंगानुष्ठान है। इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है, जो संगत्याग पर आधृत है। असंगानुष्ठान महापथप्रयाण—अध्यात्म-साधना के महान् उपक्रम में गतिशीलता का संयोजक है। यह अनागामि पद—अपुनरावर्तन—जन्म-मरण से रहित शाश्वत पद प्राप्त कराने वाला है।

[१७६]

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥

योगीजन असंगानुष्ठान पद को विभिन्न नामों से आख्यात करते हैं। इसे सांख्य दर्शन में प्रशान्तवाहिता, बौद्ध दर्शन में विसभागपरिक्षय तथा शैव दर्शन में शिववर्त्म कहा गया है। कोई उसे ध्रुव मार्ग भी कहते है।

[१७७]

एतत् प्रसाधयत्याशु यद्योगस्यां व्यवस्थितः ।
एतत्पदावहैषैव तत्तश्चैतद्विदां मता ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी असंगानुष्ठान को शीघ्र साध लेता है। अत: असंगानुष्ठानपद—परम वीतराग भावरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली यह दृष्टि इस तथ्य के वेत्ता योगीजनों को इष्ट या अभीप्सित है।

परा-दृष्टि

[१७८]

समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता ।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥

आठवीं परा-दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है—वहाँ आठवाँ योगांग समाधि[1]—चित्त का ध्येयाकार में परिणमन सध जाता है। इसमें आसंग दोष—किसी एक ही योग क्रिया में आसक्ति रूप दूषण नहीं रहता। इसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व, आत्म-स्वरूप जिस प्रकार अनुभूति में आए, वैसी प्रवृत्ति, आचरण या चारित्र सहज रूप में गतिमान् रहता है। इसमें चित्त उत्तीर्णाशय—प्रवृत्ति से उत्तीर्ण—ऊँचा उठा हुआ हो जाता है। चित्त में कोई प्रवृत्ति करने की वासना नहीं रहती।

[१७९]

निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः।
आरूढारोहणाभावगतिवत्त्वस्य चेष्टितम्॥

इस दृष्टि में योगी निराचार पद युक्त होता है—किसी आचार के अनुसरण का प्रयोजन वहाँ रह नहीं जाता। वह अतिचारों से विवर्जित होता है—कोई अतिचार या दोष लगने का कारण उसके नहीं होता। जो पहुँचने योग्य मंजिल पर चढ़ चुका हो, उसे और आगे चढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः आगे चढ़ने का अभाव हो जाता है। वैसी ही स्थिति यहाँ स्थित योगी की होती है। उसके लिए किसी आचार का परिपालन अपेक्षित नहीं रहता। वह वैसी स्थिति से ऊँचा उठ चुकता है।

[१८०]

रत्नादिशिक्षादृग्भ्योऽन्या यथा दृक् तन्नियोजने।
तथाचारक्रियाऽप्यस्य सैवान्या फलभेदतः॥

रत्न आदि के सम्बन्ध में शिक्षा लेते समय शिक्षार्थी की जो दृष्टि होती है, शिक्षा ले चुकने पर, उस विद्या या कला में निष्णात हो जाने पर रत्न आदि के नियोजन—क्रय-विक्रय आदि प्रयोग में उसकी दृष्टि उससे सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उसकी दोनों स्थितियों में अन्तर है। शिक्षाकाल में वह जिज्ञासु था, उसे जानने की, अपना ज्ञान बढ़ाने की

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
—पातञ्जल योगसूत्र ३.३

उत्सुकता थी। नियोजन-काल में वह उस स्थिति से ऊँचा उठा हुआ है। वहाँ वह प्राप्त ज्ञान या निपुणता का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग करता है। यही स्थिति इस दृष्टि में संस्थित योगी की है। उसकी पहले की आचार-क्रिया तथा अब की आचार-क्रिया फलभेद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है।

[१८१]

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत्।
तथाऽयं धर्मसंन्यासविनियोगान्महामुनिः॥

सुयोग्य जौहरी रत्न के सद्विनियोग से—लाभप्रद व्यवसाय से अपने को कृतकृत्य मानता है, वैसे ही वह महान् योगी धर्म-संन्यास—शुद्ध दृष्टि से तात्त्विक आचरणमूलक, नैश्चयिक शुद्ध व्यवहारमय विशिष्ट योग द्वारा अपने को कृतकृत्य मानता है।

[१८२]

द्वितीयापूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया॥

मुख्य—तात्त्विक द्वितीय अपूर्वकरण में धर्म-संन्यास निष्पन्न होता है। उससे योगी को सदा उत्कर्षशील—प्रतिपात रहित केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी अधिगत होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, प्रथम अपूर्वकरण में ग्रन्थि-भेद होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। प्रथम अपूर्वकरण में अनादि-कालीन भवभ्रमण के मध्य जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, साधक में ऐसा प्रशस्त, शुभ आत्मपरिणाम उद्भूत होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में साधक के परिणामों में अपूर्व निर्मलता तथा पवित्रता का संचार होता है।

[१८३]

स्थितः शीतांशुवज्जीवः प्रकृत्या भावशुद्धया।
चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत्॥

जीव अपनी शुद्धभावात्मक प्रकृति से चन्द्र के समान स्थित है। विज्ञान—आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान चन्द्रिका के सदृश है तथा आवरण—ज्ञानावरणादि कर्म-आवरण मेघ के समान हैं, जो शुद्ध स्वभावस्थ आत्मा को आवृत्त करते है।

[१८४]

घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगानिलाहतेः ।
यदापैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—ये घाति—आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म बादल के समान हैं। जब ये पूर्वोक्त योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं, तब आत्म-लक्ष्मीसमुपेत साधक ज्ञानकेवली—सर्वज्ञ हो जाता है।

[१८५]

क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥

अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, हास्य, अरति, रति, शोक, दुर्गंच्छा, भय, राग, द्वेष, अविरति, वेदोदय—काम-वासना, दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय—इन अठारह दोषों का क्षय हो जाने से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है।

चार घाति-कर्म, जो क्षीण हो चुकते हैं, उनमें एक अन्तराय-कर्म है, जिसके क्षय से अनन्त दानलब्धि, अनन्त लाभ-लब्धि, अनन्तवीर्य-लब्धि, अनन्तभोग-लब्धि तथा अनन्त उपभोग-लब्धि समुदित होती है। पर यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इन लब्धियों की सम्प्राप्ति आत्मा के क्षायिक-भाव से निष्पन्न है, औदायिक-भाव से नहीं। अतः शुद्ध भावापन्न आत्मा, परमपुरुष इन लब्धियों की प्रवृत्ति पौद्गलिक दृष्टि से नहीं करते। ये लब्धियाँ आत्म-स्वभावभूत है, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में, परमानन्द में विविध-मुखी परिणमन के रूप में इनकी प्रवृत्ति या उपयोग है। ये नितान्त आध्यात्मिक है।

उच्चावस्था प्राप्त, समग्रलब्धि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष रहे चार अघाति कर्मों के उदयानुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए परम लोक-कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से सन्तप्त लोगों को आत्मशान्ति प्रदान कर, जन-जन का महान् उपकार कर योग का पर्यवसान साध लेते हैं—अन्ततः योग की चरम-फल-प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त कर लेते है।

[१८६]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगराहित्य – मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा, जो योग की सर्वोत्तम दशा है, शीघ्र ही संसार रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

मुक्ततत्त्वमीमांसा —

[१८७]

व्याधिमुक्तः पुमान् लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है, वैसा ही वह मुक्त पुरुष है। वह अभावरूप नहीं है, सद्भावरूप है। वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ, ऐसा नहीं है अर्थात् भवव्याधि से वह मुक्त हुआ है। वह व्याधि से युक्त नहीं हुआ, ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह भवव्याधि से युक्त था।

[१८८]

भव एव महाव्याधिर्जन्ममृत्युविकारवान् ।
विचित्रमोहजननस्तीव्ररागादिवेदनः ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है, जो जन्म-मरण के विकार से युक्त है, अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग, द्वेष आदि की वेदना—पीड़ा—संक्लेश लिये हुए है।

[१८९]

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिचित्रकर्मनिदानजः ।
तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वप्राणभृतामिति ॥

यह (भव-व्याधि) आत्मा की प्रमुख व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादि काल से चले आते विविध प्रकार के कर्मों से यह प्रसूत है। सभी प्राणियों को यह अनुभवसिद्ध है—सभी इसे अपने-अपने अनुभव से जानते हैं।

[१९०]

एतन्मुक्तश्च मुक्तोऽपि मुख्य एवोपपद्यते ।
जन्मादिदोष विगमात्तददोषत्वसंगतेः ॥

भव-व्याधि से मुक्त हुआ पुरुष भी जन्म, मृत्यु प्रभृति दोषों के मिट जाने तथा सर्वथा दोष रहित हो जाने के कारण पारमार्थिक सत्-रूप मुख्य—प्रधान—परमोत्तम ही होता है। अर्थात् भवव्याधि को जिसे मुख्य कहा गया है, मिटा देने के कारण मिटाने वाला परम पुरुष भी मुख्य ही है—मुख्य बाधक को मिटाया, स्वयं सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्ति रूप मुख्यत्व स्वायत्त किया।

[१९१]

तत्स्वभावोपमर्दोऽपि ततत्स्वाभाव्ययोगतः ।
तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसंगतिः ॥

अपने स्वभाव के उपमर्द से—विभाव या परभाव के आक्रमण से स्वभाव के उपमर्दित—उपप्लुत—आवृत हो जाने के कारण—दब जाने या ढक जाने के कारण संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है—उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित होता है, विभाव का आवरण हट जाता है, तब उसका तथाभाव-शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है और सर्वथा उसे निर्दोषावस्था प्राप्त हो जाती है।

[१६२]

स्वभावोऽस्य स्वभावो यन्निजा सत्तैव तत्त्वत. ।
भावावधिरयं युक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

आत्मा का जो अपना भाव है, तत्त्वतः जो अपनी सत्ता है, उसी प्रकार होना स्वभाव है। स्वभाव भावावधियुक्त है— स्वभाव की जैसी, जितनी मर्यादा है, वह उसी प्रकार घटित होता है, अन्य प्रकार में नहीं। शुद्ध चेतन भाव में होना, वर्तना आत्मा की स्वभाव-मर्यादा है, यही इसका मर्यादा-धर्म है। शुद्ध चेतन भाव में वर्तने से ही आत्मा का स्वभाव में आना कहा जाता है। चेतन भाव में न वर्ते तो उसका स्वभाव में आना, वर्तना नहीं कहा जाता। यदि कहा जाता है तो अति प्रसंग दोष आता है। वैसा कहना प्रसंग से बहिर्भूत है।

[१६३]

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु ।
तयाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्वा सदैव हि ॥

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने क्षणिकवाद का निषेध किया है जो पहले, अगले क्षण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, केवल उसे वर्तमान क्षणवर्ती मानता है, स्वयं उस पर भी यह घटाया जाय तो विरोध आता है। उसके कथन के अविरुद्ध विचार किया जाए तो अपने कथनानुसार वर्तमान भाव में तो वह है, पिछले, अगले क्षण में नही। जो वर्तमान भाव में वर्तमान— विद्यमान है तो भाव की दृष्टि से वह नित्य होना चाहिए। तद्भाव तद्वत् होता है, ऐसा नियम है। तदवत् तभी होता है, जब पिछले क्षण में भी भाव या सत्ता हो।

यदि पिछले, अगले क्षण में सर्वथा 'अभाव' होने पर जोर दिया जाए तो वादी का स्वयं का भी अगले, पिछले क्षण में अस्तित्व नहीं टिकता। जब वह स्वयं पिछले, अगले क्षण में नहीं है तो पिछले, अगले क्षण के सम्बन्ध में वह कैसे जान सकता है, उस सम्बन्ध में कैसे कुछ कह सकता है ? अतः वह स्वयं वर्तमान क्षण में विद्यमान है, यह इस तथ्य का सूचक है कि पिछले,

[१८९]

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिचित्रकर्मनिदानजः ।
तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वप्राणिभृतामिति ॥

यह (भव-व्याधि) आत्मा की प्रमुख व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादि काल से चले आते विविध प्रकार के कर्मों से यह प्रसूत है। सभी प्राणियों को यह अनुभवसिद्ध है—सभी इसे अपने-अपने अनुभव से जानते हैं।

[१९०]

एतन्मुक्तश्च मुक्तोऽपि मुख्य एवोपपद्यते ।
जन्मादिदोष विगमात्तददोषत्वसंगतेः ॥

भव-व्याधि से मुक्त हुआ पुरुष भी जन्म, मृत्यु प्रभृति दोषों के मिट जाने तथा सर्वथा दोष रहित हो जाने के कारण पारमार्थिक सत्-रूप मुख्य—प्रधान—परमोत्तम ही होता है। अर्थात् भवव्याधि को जिसे मुख्य कहा गया है, मिटा देने के कारण मिटाने वाला परम पुरुष भी मुख्य ही है—मुख्य बाधक को मिटाया, स्वयं सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्ति रूप मुख्यत्व स्वायत्त किया।

[१९१]

तत्स्वभावोपमर्देऽपि तत्तत्स्वाभाव्ययोगतः ।
तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसंगतिः ॥

अपने स्वभाव के उपमर्द से—विभाव या परभाव के आक्रमण से स्वभाव के उपमर्दित—उपप्लुत—आवृत हो जाने के कारण—दब जाने या ढक जाने के कारण संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है—उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित होता है, विभाव का आवरण हट जाता है, तब उसका तथाभाव-शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है और सर्वथा उसे निर्दोषावस्था प्राप्त हो जाती है।

[१६२]

स्वभावोऽस्य स्वभावो यन्निजा सत्तैव तत्त्वतः ।
भावावधिरयं युक्तो नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

आत्मा का जो अपना भाव है, तत्त्वतः जो अपनी सत्ता है, उसी प्रकार होना स्वभाव है। स्वभाव भावावधियुक्त है—स्वभाव की जैसी, जितनी मर्यादा है, वह उसी प्रकार घटित होता है, अन्य प्रकार में नहीं। शुद्ध चेतन भाव में होना, वर्तना आत्मा की स्वभाव-मर्यादा है, यही इसका मर्यादा-धर्म है। शुद्ध चेतन भाव में वर्तने से ही आत्मा का स्वभाव में आना कहा जाता है। चेतन भाव में न वर्ते तो उसका स्वभाव में आना, वर्तना नहीं कहा जाता। यदि कहा जाता है तो अति प्रसंग दोष आता है। वैसा कहना प्रसंग से बहिर्भूत है।

[१६३]

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु ।
तयाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्वा सदैव हि ॥

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने क्षणिकवाद का निषेध किया है जो पहले, अगले क्षण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, केवल उसे वर्तमान क्षणवर्ती मानता है, स्वयं उस पर भी यह घटाया जाय तो विरोध आता है। उसके कथन के अविरुद्ध विचार किया जाए तो अपने कथनानुसार वर्तमान भाव में तो वह है, पिछले, अगले क्षण में नहीं। जो वर्तमान भाव में वर्तमान—विद्यमान है तो भाव की दृष्टि से वह नित्य होना चाहिए। तद्-भाव तद्वत् होता है, ऐसा नियम है। तदवत् तभी होता है, जब पिछले क्षण में भी भाव या सत्ता हो।

यदि पिछले, अगले क्षण में सर्वथा 'अभाव' होने पर जोर दिया जाए तो वादी का स्वयं का भी अगले, पिछले क्षण में अस्तित्व नहीं टिकता। जब वह स्वयं पिछले, अगले क्षण में नहीं है तो पिछले, अगले क्षण के सम्बन्ध में वह कैसे जान सकता है, उस सम्बन्ध में कैसे कुछ कह सकता है ? अतः वह स्वयं वर्तमान क्षण में विद्यमान है, यह इस तथ्य का सूचक है कि पिछले,

अगले क्षण—भूत, भविष्य में भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिए। क्योंकि जैसा कहा गया है, 'वस्तु क्षणिक है'—जो ऐसा जानता है, कथन करता है, वह स्वयं क्षणिक नही होता। उसका अपना भूत, वर्तमान, भविष्यवर्ती अस्तित्व एक ऐसा तथ्य है, जिससे क्षणिकवाद स्वयं निरस्त हो जाता है।

[१९४]

स एव न भवत्येतदन्यथा भवतीतिवत्।
विरुद्धं तन्नयादेव तदुत्पत्त्यादितस्तथा॥

क्षणिकवाद का और अधिक स्पष्टता तथा युक्तिमत्तापूर्वक यहाँ निरसन किया गया है। "स एव न भवति – वह ही नहीं होता।" "एतदन्यथा भवति—यह अन्यथा होता है।" इन उक्तियों के आधार पर आचार्य अपना विवेचन आगे बढ़ाते हैं। 'अन्यथा भवति' इसका क्षणिकवादी खण्डन करता है। उसका कथन है—यदि 'भवति'—भाव है तो वह अन्यथा नहीं होता। यदि अन्यथा होता है तो भाव नहीं है। यों खण्डन करता हुआ वह स्वयं अपने से ही व्याहत हो जाता है। वह "स एव न भवति" ऐसा जो निरूपण करता है, अर्थात विगत क्षण तथा आगामी क्षण में वह नहीं होता —यह कथन भी "एतत् अन्यथा भवति" को जैसे असंगत बतलाया, असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि यदि "स एव—वही है" तो फिर 'न भवति' सिद्ध नहीं होता और यदि वह 'न भवति' है तो फिर 'स एव'—वही है, ऐसा फलित नहीं होता। इस युक्ति से क्षणिकवाद की सिद्धि घटित नहीं होती।

[१९५]

सतोऽसत्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत्।
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदा नाशे न तत्स्थितिः॥

यदि सत् का असत्त्व माना जाए, उसे असत् माना जाए तो असत्त्व की उत्पत्ति माननी होगी। यदि उत्पत्ति होगी तो नाश भी मानना होगा। फिर नष्ट हुए असत्त्व का पुनर्भाव होगा। यदि उसका नित्य नाश माना जाए तो फिर उसकी स्थिति ही नहीं टिकेगी।

[१९६]

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणे स्थितौ ।
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥

यदि ऐसा कहा जाए, वह नाश क्षणस्थितिधर्मा है तो द्वितीय आदि क्षण में उसकी स्थिति होगी, जो युक्त है। ऐसा होने से उक्त का अनतिक्रम होता है—जो कहा गया है, उसका उल्लंघन—खण्डन नहीं होता।

[१९७]

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितिर्युक्त्यसंगतेः ।
पश्चादपि सेत्येवं सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥

क्षण स्थितिकता मानने पर विवक्षित क्षण में विवक्षित भाव की अस्थिति—स्थिति रहितता नहीं होती। अर्थात् उसकी स्थिति होती है। ऐसा न होने पर युक्तिसंगतता बाधित होती है। बाद में भी स्थितिराहित्य नहीं होता। यों अपरापर-अनुस्यूत सत्, असत् का एक सुव्यवस्थित क्रम है। इससे उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का सिद्धान्त फलित होता है।

[१९८]

भवभावानिवृत्तावप्ययुक्ता मुक्तकल्पना ।
एकान्तैकस्वभावस्य न ह्यवस्थाद्वयं क्वचित् ॥

संसार-भाव की अनिवृत्ति—एकान्त नित्यता मानने पर आत्मा के मुक्त होने की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जिसका एकान्तः सर्वथा स्थिर, अपरिवर्त्य, एक रूप स्वभाव होता है, संसारावस्था, मुक्तावस्था—यों दो अवस्थाएँ उसके नहीं हो सकती। वैसा होने से उसकी एकस्वभावता में विरोध आता है।

[१९९]

तदभावे च संसारी मुक्तश्चेति निरर्थकम् ।
तत्स्वभावोपमर्दोऽस्य नीत्या तात्त्विक इष्यताम् ॥

उक्त दो अवस्थाओं के न होने पर आत्मा को संसारी और मुक्त कहना निरर्थक होगा। अतः आत्मा का स्वभावोपमर्द—अवस्था से अवस्थान्तर, भाव से भावान्तर, परिणाम से परिणामान्तर आदि न्यायपूर्वक तात्त्विक—पारमार्थिक या यथार्थ मानें। ऐसा होने से ही आत्मा की संसारावस्था, मुक्तावस्था आदि स्थितियाँ घटित हो सकती है।

[२००]

दिदृक्षाद्यात्मभूतं तन्मुख्यमस्य निवर्तते ।
प्रधानादिनतेर्हेतुस्तदभावान्न तन्नतिः ॥

दिदृक्षा—देखने की इच्छा, अविद्या—आत्मस्वरूप का अज्ञान,—राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक मालिन्य, भवाधिकार—संसारोन्मुख भाव की प्रबलता आदि आत्मभूत हैं—आत्मा के अंगभूत भाव हैं, वास्तविक सत्ता लिये हुए हैं, काल्पनिक नहीं है। आत्मा के साथ जुड़े होने से वे औपचारिक नहीं वरन् मुख्य हैं। वे जब तक निवृत्त नहीं होते—आत्मा से हटते नहीं, तब तक वे प्रधान—जड़ प्रकृति आदि के परिणमन के निमित्त बनते हैं। तब तक संसारभाव—सांसारिक संलग्नता बनी रहती है। दिदृक्षा आदि भावों का जब अभाव हो जाता है तो आत्मा के प्रकृत्यनुरूप परिणमन का अभाव हो जाता है, मुक्तभाव प्राप्त हो जाता है। आत्मा का परिणामित्व इससे सिद्ध होता है।

[२०१]

अन्यथा स्यादियं नित्यमेषा च भव उच्यते ।
एवं च भवनित्यत्वे कथं मुक्तस्य सम्भवः ॥

यदि उक्त कथन—दिदृक्षा आदि के कारण प्रधान आदि की परिणति न मानी जाए, तो वह (प्रधान आदि की परिणति) नित्य घटित होती है। इसे (परिणति को) भव या संसार कहा जाता है। प्रधान आदि की परिणति को जब नित्य माना जायेगा तो संसार भी नित्य होगा। वैसी स्थिति में मुक्त की—संसार-बन्धन से छूटे हुए—मोक्ष प्राप्त जीव की संभावना कैसे की जा सकती है? अर्थात् वैसा नहीं सधता।

[२०२]

अवस्था तत्त्वतो नो चेन्ननु तत्प्रत्ययः कथम् ।
भ्रान्तोऽयं किमनेनेति मानमत्रं न विद्यते ॥

एकान्त नित्यवादी को उद्दिष्ट कर आचार्य का कथन है—यदि पूर्वापरभावयुक्त अवस्था परमार्थतः नहीं है, ऐसा कहते हो तो फिर अवस्था का प्रत्यय-प्रतीति कैसे हो ? कारण के अभाव में कार्य कैसे हो ?

इस पर वादी का पक्ष आता है—अवस्था की प्रतीति भ्रान्त—भ्रम-युक्त है, वह यथार्थ नहीं है।

आचार्य का इस पर प्रत्युत्तर है—यदि अवस्था प्रतीति को भ्रमपूर्ण कहते हो तो उसका प्रमाण क्या है ? प्रमाण तो होना चाहिए। वस्तुतः इसका प्रमाण नही है। यह कथन अप्रमाणित है।

[२०३]

योगिज्ञानं तु मानं चेत्तदवस्थान्तरं तु तत् ।
ततः किं भ्रान्तमेतत् स्यादन्यथा सिद्धसाध्यता ॥

पूर्वपक्ष को उद्दिष्ट कर आचार्य कहते हैं—यदि यों कहो कि योगिज्ञान —योग-साधना द्वारा निष्पन्न असाधारण ज्ञान, जिससे परोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षवत् प्रतीत होते है, इसमें प्रमाण है तो योगिज्ञान तो योगी का अवस्थान्तर है—ज्ञान का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में, एक परिणमन से दूसरे परिणमन में जाना है।

प्रतिवादी का कथन है—इससे क्या होता है ?

आचार्य का निरूपण है—योगिज्ञान या तो भ्रान्त होगा या अभ्रान्त। यदि उसे भ्रान्त मानते हो तो वह प्रमाण नहीं है। यदि अभ्रान्त मानते हो तो योगिज्ञान के अवस्थान्तर रूप होने से हमारा साध्य विषय आत्मा की अवस्थान्तरता—परिणामिता सिद्ध हो जाती है।

[२०४-२०५]

व्याधितस्तदभावो वा तदन्यो वा यथैव हि ।
व्याधिमुक्तो न सन्नीत्या कदाचिदुपपद्यते ॥

संसारी तदभावो वा तदन्यो वा तथैव हि ।
मुक्तोऽपि हन्त नो मुक्तो मुख्यवृत्त्येति तद्विदः ॥

जो व्याधियुक्त—रोग सहित है, उसे व्याधिमुक्त नहीं कहा जा सकता । जहाँ व्याधियुक्त का अभाव है—व्याधियुक्त पुरुष जहाँ है ही नहीं, वहाँ भी व्याधिमुक्त का प्रयोग नहीं होता । क्योंकि व्याधियुक्त होने पर ही व्याधि छूट जाने पर व्याधिमुक्त संज्ञा होती है । व्याधियुक्त पुरुष से अन्य व्यक्ति—उसके पुत्र, बन्धु, मित्र आदि को या तद्भिन्न और किसी को व्याधिमुक्त नहीं कहा जा सकता । उनमें से जब कोई व्याधिग्रस्त नहीं, तो फिर मुक्त कैसे कहे जायेंगे ।

इस दृष्टान्त के अनुसार जो जीव संसारी—संसारावस्थापन्न है, उसे मुक्त—संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता है, जहाँ संसारी पुरुष का अभाव है, वहाँ संसारमुक्त का प्रयोग नहीं घटता, जो संसारी पुरुष से एकान्त भिन्न है, उसे भी संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार सभी जीवों को मुक्त या सिद्ध सदृश कहा गया है पर यथार्थतः पारमार्थिक मुक्तावस्था के विना—मोक्ष की प्रवृत्तिनिमित्तता के अभाव में उक्त तीनों ही अवस्थाओं में 'मुक्त' का कथन घटित नहीं होता ।

[२०६]

क्षीणव्याधिर्यथा लोके व्याधिमुक्त इति स्थितः ।
भवरोग्येव तु तथा मुक्तस्तन्त्रेषु तत्क्षयात् ॥

जैसे व्याधियुक्त पुरुष व्याधि का क्षय—नाश हो जाने पर क्षीण व्याधि होता है, उसी प्रकार ससार—जन्म-मरण के रोग से ग्रस्त पुरुष उस रोग का—संसारावस्था का क्षय हो जाने पर मुक्त हो जाता है । ऐसा शास्त्रों में निर्देश है ।

कुलयोगी आदि का स्वरूप

[२०७]

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः ।
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ॥

आचार्य ग्रन्थ-प्रणयन के सम्बन्ध में लिखते हैं—अनेक योगशास्त्रों से उनका सार गृहीत कर मित्रा आदि दृष्टियों के भेद से—दृष्टि विश्लेपण की पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मानुस्मृति—आत्मस्वरूप का, आत्मप्रगति का अनुस्मरण—आत्मलक्ष्य की ओर जागरूक रहने, आत्म पराक्रम के सतत विकासोन्मुख अभ्युदय का स्मरण रखने हेतु आत्मोपकारार्थ रचा गया है।

[२०८]

कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः ।
अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥

कुलादि योग—गोत्रयोग, कुलयोग, प्रवृत्तचक्रयोग तथा निष्पन्नयोग—इन भेदों के आधार पर योगी चार प्रकार के हैं। उनमें से भी किन्हीं का यत्किञ्चित् उपकार सधे, इसका विरोध नहीं। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य प्रयोजन तो आत्मानुस्मृति या आत्मोपकार ही है पर योगियों का उपकार भी इसका उपप्रयोजन या गौण प्रयोजन है।

[२०९]

कुलप्रवृत्तचक्रा ये त एवास्याधिकारिणः ।
योगिनो न तु सर्वेऽपि तथासिद्ध्यादि भावतः ॥

कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी ही इसके अधिकारी है, सभी योगी नहीं। क्योंकि गोत्रयोगी में वैसी योग्यता की असिद्धि होती है—उसमें वैसी योग्यता नहीं होती तथा निष्पन्नयोगी को वैसी योगसिद्धि प्राप्त हो चुकती है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन तथा तदनुरूप साधन से प्राप्य है। अतः गोत्रयोगी तथा निष्पन्नयोगी—इन दो के लिए इसकी उपयोगिता नहीं है।

[२१०]

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥

जो योगियों के कुल में जन्मे है—जिन्हें जन्म से ही योग प्राप्त है—जो जन्म से हो योगी हैं, जो प्रकृति से ही योगिधर्म के अनुसर्ता हैं, वे कुल योगी कहे जाते हैं।

तात्पर्य यह है, जो योगी योग-साधना करते-करते आयुष्य पूर्ण कर जाते हैं, उस जन्म में अपनी साधना पूर्ण नहीं कर पाते वे कुलयोगी के रूप में जन्म लेते हैं अर्थात् पूर्वसंस्कारवश उन्हें जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है, उनकी प्रकृति योग-साधना के अनुरूप होती है, वे आत्मप्रेरित हो स्वयं साधना में जुट जाते हैं।

कुलयोगी शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जैसे कुलवधू, कुलपुत्र आदि प्रशस्त अर्थ में हैं, उसी प्रकार कुलयोगी भी एक विशेष अर्थप्रशस्तता लिए हुए हैं। कुलवधू उसे कहा जाता है, जो अपने उच्च चारित्र, शील, सदाचार, लज्जा तथा सौम्य व्यवहार से कुल को सुशोभित करती है। कुलपुत्र वह है, जो अपने उत्तम व्यक्तित्व और कृतित्व से कुल को उजागर करता है। उसी प्रकार कुलयोगी उसे कहा जाता है, जो अपनी पावन, उदात्त योग-साधना द्वारा योगियों की गरिमा व्यापित करता है, उनके अनुकरणीय, आदर्श जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है। कुलयोगी आनुवंशिक नहीं है। योगियों का वैसा कोई कुल नहीं होता कि पिता योगी हो, पुत्र भी योगी हो, पुत्र का पुत्र भी योगी हो। कुलयोगी शब्द साधनानिष्ठ, योगपरायण पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो जन्म, वंशानुगति आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो सकते है।

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारत भूमि में उत्पन्न भूमिभव्य कहे जाते हैं, उन्हें गोत्रयोगी भी कहा जाता है। इस भूमि में योग-साधना के अनुरूप उत्तम सामग्री, साधन, निमित्त आदि सुलभतया अधिगत होते है। पर केवल भूमि की भव्यता से साधना निष्पन्न नहीं होती। वह तभी सधती है, जब साधक अपनी भव्यता, योग्यता, एवं सुपात्रता प्रकट कर पाए।

अतएव प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि दूसरे गोत्रयोगी होते हुए भी कुलयोगी नहीं होते।

[२११]

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥

वे कुलयोगी सर्वत्र अद्वेषी होते हैं—किसी से भी द्वेष नहीं रखते गुरु, देव तथा ब्राह्मण उन्हें प्रिय होते हैं—वे इनमें प्रीति रखते हैं, इनका आदर करते हैं। वे दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध तथा जितेन्द्रिय होते हैं।

[२१२]

प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं शुश्रूषादिगुणान्विताः ॥

चक्र के किसी भाग पर डंडा सटाकर घुमा देने पर वह सारा स्वयं घूमने लग जाता है, वैसे ही जिनका योगचक्र उसके किसी अंग का संस्पर्श कर लेने, संप्रेरित कर देने पर सारा अपने आप प्रवृत्त हो जाता है, चलने लगता है, वे प्रवृत्तचक्र योगी कहे जाते हैं।

वे इच्छायम तथा प्रवृत्तियम—इन दो को साध चुकते हैं। स्थिरयम एवं सिद्धियम—इन दो को स्वायत्त करने की तीव्र चाह लिये रहते हैं, उधर *अत्यन्त प्रयत्नशील* रहते हैं।

प्रवृत्तचक्र योगी १. शुश्रूषा—सत् तत्त्व सुनने की आन्तरिक तीव्र उत्कण्ठा रखना, २. श्रवण—अर्थ का मनन-अनुसन्धान करते हुए सावधानीपूर्वक तत्त्व सुनना, ३. सुने हुए को ग्रहण करना, ४. धारण—ग्रहण किये हुए का अवधारण करना, चित्त में उसका संस्कार जमाना, ५. विज्ञान—अवधारण करने पर उसका विशिष्ट ज्ञान होता है, प्राप्त बोध दृढ़ संस्कार से उत्तरोत्तर प्रबल बनता जाता है, वैसी स्थिति प्राप्त करना, ६. ईहा—चिन्तन, विमर्श, तर्क-वितर्क, शंका-समाधान करना, ७. अपोह—शंका-निवारण करना, चिन्तन विमर्श के अन्तर्गत प्रतीयमान बाधक अंश का निराकरण करना तथा ८. तत्त्वाभिनिवेश—तत्त्व में निश्चय पूर्ण प्रवेश या तत्त्वनिर्धारणमूलक अन्तःस्थिति प्राप्त करना—इन आठ गुणों से युक्त होते हैं।

[२१३]

आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ॥

ये प्रवृत्तचक्रयोगी आद्य-अवञ्चक—योग-अवञ्चक प्राप्त कर चुक है। योग-अवञ्चक प्राप्त करने का यह अमोघ प्रभाव होता है, उन्हें दूस दो—क्रिया-अवञ्चक तथा फल-अवञ्चक सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। इन योगियों के तीनों अवंचक स्वायत्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग प्रयोग—योग विद्या या योग-साधना के प्रयोग के अधिकारी हैं। योगविद आध्यात्मिक विज्ञान है। अधिकारी जहाँ इससे महत्त्वपूर्ण प्रयोग द्वा असीम लाभ उठा सकते हैं, वहाँ अनधिकारी हानि उठा लेते हैं।

[२१४]

इहाऽहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम् ।
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादिचतुर्विधाः ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम साधव में सुप्रसिद्ध—सुप्रचलित हैं। इनमें अहिंसा से अपरिग्रह तक प्रत्येक इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में चार-चार भेद है ये चारों भेद अहिंसा आदि यमों की तरतमता या विकासकोटि की दृ से हैं, उनके क्रमिक अभिवर्धन के सूचक है।

इन भेदों के आधार पर निम्नांकित रूप में यम बीस प्रकार होते हैं:—

'अहिंसा

१. इच्छा-अहिंसा, २. प्रवृत्ति-अहिंसा,
३. स्थिर-अहिंसा, ४. सिद्धि-अहिंसा।

'सत्य

५. इच्छा-सत्य, ६. प्रवृत्ति-सत्य,
७. स्थिर-सत्य, ८. सिद्धि-सत्य।

अस्तेय—

९. इच्छा-अस्तेय, १०. प्रवृत्ति-अस्तेय,
११. स्थिर-अस्तेय, १२. सिद्धि-अस्तेय।

ब्रह्मचर्य—

१३ इच्छा-ब्रह्मचर्य, १४. प्रवृत्ति-ब्रह्मचर्य,
१५. स्थिर-ब्रह्मचर्य, १६ सिद्धि-ब्रह्मचर्य।

अपरिग्रह—

१७ इच्छा-अपरिग्रह, १८. प्रवृत्ति-अपरिग्रह,
१९. स्थिर-अपरिग्रह, २०. सिद्धि-अपरिग्रह।

[२१५]

तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी ।
यमेष्विच्छाऽवसेयेह प्रथमो यम एव तु ॥

यमों के प्रति आन्तरिक इच्छा, अभिरुचि, स्पृहा, आकांक्षा, जो यमाराधक सत्पुरुषों की कथा में प्रीति लिए रहती है, जिसमें इतनी स्थिरता होती है कि जो कभी विपरिणत नहीं होती—अनिच्छारूप में परिणत नहीं होती—पहला इच्छायम है।

[२१६]

सर्वत्र शमसारं तु यमपालनमेव यत् ।
प्रवृत्तिरिह विज्ञेया द्वितीयो यम एव तत् ॥

इच्छायम द्वारा अहिंसा आदि में उत्कण्ठा जागरित होती है, अन्तरात्मा में उन्हें स्वायत्त करने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है। फलतः साधक जीवन में उन्हें (अहिंसा आदि यमों को) क्रियान्वित करता है, प्रवृत्ति में स्वीकार करता है—उनमें प्रवृत्त होता है, वह प्रवृत्ति-यम है।

यम-पालन का सार शम है अर्थात् यम-पालन से जीवन में शम—प्रशान्तभाव, शान्ति का उद्रेक होता है। अथवा जीवन में शम का समावेश होने पर यम प्रतिफलित होता है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है,

शम का सार—फल यम है। यों यम और शम—दोनों अन्योन्याश्रित सिद्ध होते हैं।

[२१७]

विपक्षचिन्तारहितं यमपालनमेव तत् ।
तत्स्थैर्यमिह विज्ञेयं तृतीयो यम एव हि ॥

प्रवृत्तियम के अन्तर्गत साधक अहिंसा आदि के परिपालन में प्रवृत्त तो हो जाता है किन्तु अतिचार, दोष, विघ्न आदि का भय बना रहता है। स्थिरयम में वैसा नहीं होता। साधक के अन्तर्मन में इतनी स्थिरता व्याप्त हो जाती है कि वह विपक्ष—अतिचाररूप कण्टक-विघ्न, हिंसादिरूप ज्वर-विघ्न तथा मतिमोह या मिथ्यात्वरूप दिङ्मोह-विघ्न आदि की चिन्ता से रहित हो जाता है। ये तथा दूसरे विघ्न, दोष आदि उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाते।

[२१८]

परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः ।
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य शक्ति के योग से परार्थ-साधक—दूसरों का उपकार साधने वाला यम सिद्धियम है।

जीवन में क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाते अहिंसा आदि यम इतनी उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि साधक में अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्रेक हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में एक ऐसी दिव्यता आविर्भूत हो जाती है कि उसके कुछ बोले बिना, किये बिना केवल उसकी सन्निधिमात्र से उपस्थित प्राणियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं, उनकी दुर्वृत्ति छूट जाती है।

यमों के सिद्ध हो जाने से दृष्ट फलित क्या क्या होते हैं, महर्षि पतंजलि ने इस सम्बन्ध में अपने योगसूत्र में विशद चर्चा की है। उदाहरणार्थ अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुसार अहिंसक योगी के यहाँ

वातावरण में अहिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि जन्म से परस्पर वैर रखने वाले प्राणी भी वहां स्वयं आपस का वैर[1] छोड़ देते हैं।

[२१९]

सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः ।
तथा दर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ॥

कल्याणसम्पन्न विशिष्ट पुण्यशाली सत्पुरुषों के, जिनका दर्शन पावनता लिये है—जिनके दर्शन मात्र से दर्शकों के मन में पवित्रता का संचार होता है, आत्मा में संस्फूर्ति उत्पन्न होती है अत्यन्त निर्दोष, निर्विकार, आत्मगुणोपेत स्वरूप की पहचान कर, (उनके) साथ योग या सम्बन्ध होना आद्यावंचक (आद्य-अवंचक)—योगावंचक कहा जाता है।

ऐसे सत्पुरुष के, सद्गुरु के योग से साधक के जीवन में एक क्रान्ति आती है। जीवन की दिशा बदल जाती है, संसारलक्षिता स्वरूपलक्षिता की ओर मोड़ ले लेती है। इससे पूर्व साधक वंचक-योग में उलझा था। सद्गुरु के योग के बिना उसके समग्र योगसाधन वंचक थे। वह उनसे ठगा जा रहा था। सद्गुरु का योग, सद्गुरु की प्राप्ति, उनकी सन्निधि में प्राप्त होती प्रेरणा सचमुच साधना-पथ पर आगे बढ़ते साधक के लिए एक प्रकाश-स्तंभ है। साधक अपनी मंजिल की ओर सोत्साह आगे बढ़ता जाता है।

इसे आद्य-अवंचक कहा है। इसे प्राप्त न करने तक साधक प्रवंचना में उलझा रहता है, आगे बढ नहीं पाता। आगे बढ़ने का यह आद्य—प्रथम सोपान है।

[२२०]

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम् ।
क्रियावंचकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः ॥

उन सत्पुरुषों, सद्गुरुओं, भावसाधुओं का दर्शन, प्रणमन, स्तवन, कीर्तन, वैयावृत्य, सेवा आदि क्रिया करना क्रियावंचक योग कहा जाता है। यह महापापों का क्षय करने वाला है।

---

१. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। —पातंजल योगसूत्र २·३५

जन्म-मरण से छुटकारा, मोक्ष प्राप्त होता है। इस पर हरिभद्र ने कहा कि मुझे तो भगवन् ! भवविरह ही प्रिय लगता है अर्थात् मैं तो मोक्ष ही पसन्द करता हूँ। अस्तु हरिभद्र ने वैराग्यपूर्वक जिनदत्तसूरि के पास जैन दीक्षा स्वीकार करली। उनके दीक्षा-ग्रहण करने का उद्देश्य भव-विरह, सांसारिक आवागमन से छूटना या मुक्त होना था। अतः उन्होंने अपने लिए यह (भवविरह) उपनाम उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' नाम पड़ने के सम्बन्ध में एक घटना यह भी मानी जाती है कि कोई भक्त श्रावक जब आचार्य हरिभद्र के पास आकर उन्हें वन्दन-प्रणमन करता तो वे उसके लिए श्वेताम्बर समाज में प्रचलित आशीर्वाद-पद्धति के स्थान पर 'भवविरह' का प्रयोग किया करते थे। इसका आशय यह था कि हे भव्य मुमुक्षु ! तुम्हारा भवभ्रमण रूप संसार से विरह-छुटकारा हो। आशीर्वाद पाने वाला व्यक्ति उन्हें भवविरहसूरि ! आप दीर्घायु हों, ऐसा उत्तर में कहता।

कहावली में इसका और अधिक विस्तार करते हुए लिखा गया है। उसके अनुसार लल्लिग नामक एक व्यापारी गृहस्थ था, जो आचार्य हरिभद्र के प्रति बहुत आदर एवं श्रद्धा रखता था। मूलतः वह निर्धन था पर क्रमशः उसका धन बढ़ता गया। वह सम्पत्तिशाली हो गया। तब वह खुले हाथों दान देने लगा। वह साधुओं की भिक्षा के समय हमेशा शंख बजाता ताकि जो भी भूखे-प्यासे होते, वहाँ आ जाते। शंख इसी का सूचक था। वह उन्हें भोजन कराता। इसका अभिप्राय यह है कि लल्लिग के मन में आतिथ्य एवं करुणा का विशेष भाव था, इसलिए वह सोचता कि साधुओं को वह भिक्षा देता है, यह तो उसका विशेष कर्त्तव्य है ही पर गाँव के पास से भी कोई भूखा-प्यासा न गुजर जाए, एक गृहस्थ के नाते यह भी उसका धर्म है। भोजनशाला में भोजन करने के पश्चात् वे लोग आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करने आते। आचार्य उन्हें "तुम भव-विरह प्राप्त करो" अर्थात् तुम मोक्षोन्मुख बनो, ऐसा आशीर्वाद देते। समागत जन आचार्य को "भवविरह सूरि ! आप दीर्घ काल तक जीवित रहें" यों कहकर चले जाते। इस प्रकार उनका 'भवविरह सूरि' नाम विख्यात हो गया। □
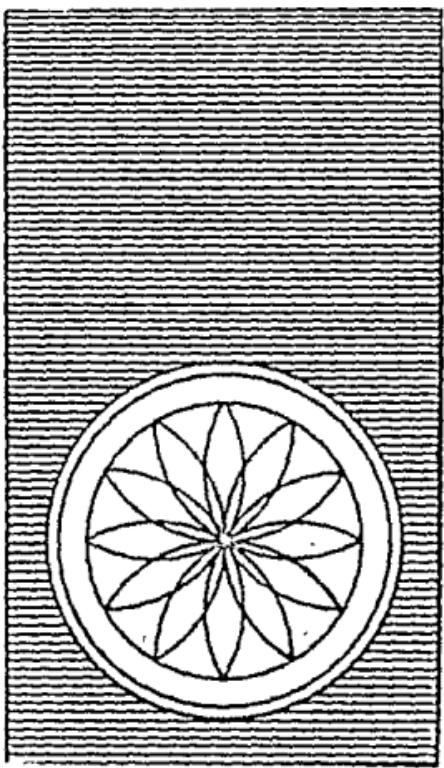
योगबिन्दु

योगबिन्दु

मंगलाचरण

[१-२]

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्वसिद्धयै महोदयम् ॥

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव मध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥

अनादि-अनन्त, उत्तम योगिजन द्वारा वन्दित-पूजित, शिव—कल्याण-रूप परमात्मा को नमस्कार कर माध्यस्थ्य-वृत्ति युक्त—संकीर्ण पक्षपात रहित योग-वेत्ताओं, योग-जिज्ञासुओं के लिए सभी योगशास्त्रों से अविरुद्ध—सभी परंपराओं के योग-ग्रन्थों के साथ समन्वित, उत्तम योग-मार्ग के उन्नायक योगबिन्दु नामक ग्रन्थ का तत्त्व-प्रकाशन हेतु प्रणयन करूंगा।

योग : असंकीर्ण साधना-पथ—

[३]

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात् तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥

योग मोक्ष का हेतु है। परम्पराओं की भिन्नता के बावजूद मूलतः उसमें कोई भेद नहीं है। जब सभी के साध्य या लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, वह एक समान है, तब उक्ति-भेद—कथन-भेद या विवेचन की भिन्नता वस्तुतः उसमें भेद नहीं ला पाती।

[४]

मोक्षहेतुत्वमेवास्य किंतु यत्नेन धीधनैः ।
सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकांक्षिभिः ॥

योग मोक्ष का हेतु है। वह शुद्ध ज्ञान तथा अनुभव पर आधृत है

अथवा शुद्ध लक्ष्य लिये हुए हैं। आत्मकल्याणेच्छु प्रज्ञाशील पुरुषों को चाहिए कि वे इसका मार्गण—गवेषणा या अनुसन्धान करें।

[५]

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥

यदि इसका लक्ष्य, स्वरूप तथा फल उपयुक्त—संगत है तो वस्तुतः इसकी योग संज्ञा सार्थक है क्योंकि यह अपने मुख्य शाब्दिक अर्थ—योग :- योजन :- मोक्ष से योजन या जोड़ना—से संवलित है।

[६]

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥

जीव तदन्य—अपने से अन्य—कर्म-पुद्गलों के संयोग से संसारी—संसारावस्थापन्न है तथा उनके वियोग से—अपगत हो जाने से मुक्त हो जाता है। संसारावस्था एवं मुक्तावस्था आत्मा और कर्म-पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है। पुद्गल-सम्बद्धता के कारण संसारावस्था है तथा अपने शुद्ध स्वभाव में आने के कारण मुक्तावस्था है, जिसका शाब्दिक अर्थ कर्म-पुद्गलों से छुटकारा है।

[७]

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः ।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

दूसरे का—देव आदि का अनुग्रह प्राप्त करना भी आत्मा के लिए घटित होता है क्योंकि उसकी वैसी प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाए तो वह सब, जो इस सन्दर्भ में निरूपित तथा अभिमत है, महत्त्वहीन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे, चौथे चरण का एक और प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है, जैसे—यदि दूसरी तरह से सोचें तो निश्चय-दृष्टि से यह अनुग्राहक-अनुग्राह्य-भाव मुख्य नहीं है, मात्र व्यवहार है।

[८]

केवलस्यात्मनो न्यायात् सदाऽऽत्मत्वाविशेषतः ।
संसारी मुक्त इत्येतद् द्वितयं कल्पनैव हि ॥

यदि एक मात्र आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाए, पुद्‌गल आदि अन्य पदार्थों का नहीं तो वह (आत्मा) सदा एकान्ततः अपने आत्मत्व-रूप गुण में संप्रतिष्ठ रहेगी। वैसी स्थिति में आत्मा के संसारी तथा मुक्त—यों भेद करना कल्पना मात्र है। वस्तुतः यह घटित नहीं होता।

[९]

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न ।
शुद्ध्यशुद्धी ऋते शब्दात् तद्वदत्राप्यसंशयम् ॥

सर्वथा शुद्ध—अन्य धातुओं मे अमिश्रित स्वर्ण के सम्बन्ध में शुद्धता अशुद्धता का कथन घटित नही होता। पर सामान्य—अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण के प्रसंग में शुद्धि, अशुद्धि की जो बात कही जाती है, वह निरर्थक नहीं होती। यही तथ्य आत्मा के साथ है। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था शुद्ध स्वर्ण जैसी है और ससारावस्था अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण जैसी। वहाँ (संसारावस्था में) शुद्धि, अशुद्धिमूलक कथन निःसन्देह संगत है।

[१०-११]

योग्यतामन्तरेणास्य संयोगोऽपि न युज्यते ।
सा च तत्तत्त्वमित्येवं तत्संयोगोऽप्यनादिमान् ॥
योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुनः ।
अतीतकालसाधर्म्यात् किं त्वाज्ञातोऽप्यमीदृशः ॥

पुद्‌गलों को आकृष्ट करना, उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है। ऐसा न हो तो आत्मा और पुद्‌गल का संयोग घटित नहीं होता। आत्मा अनादि है अतः यह योग्यता तथा संयोग भी अनादि हैं।

आत्मा द्वारा प्रति समय कर्म ग्रहण—कर्म-पुद्‌गल-संयोग की प्रक्रिया देखते इसे अनादि कैसे मानें, इसका समाधान भूतकाल के उदाहरण से लेना चाहिए। वर्तमान, भूत, भविष्य—ये तीन काल हैं। अनागत—भविष्य जब

अस्तित्व में आता है तो वह वर्तमान बन जाता है। वर्तित होकर वह (वर्तमान) भूत में परिणत हो जाता है। यों परिणत होने की परम्परा सादि है पर भूत के रूप में समाहृत होते रहना—यह प्रवाहरूप से अनादि है। क्योंकि यह क्रम कब से प्रारंभ हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार क्षण-क्षण कर्म-पुद्गलों के आत्मसंपृक्त होने की प्रक्रिया तत्तत्क्षण की दृष्टि से सादि है पर आत्मा और कर्म-पुद्गल संयोग की परंपरा प्रवाह रूप से अनादि है। संयोग की अनादिमत्ता न मानने से तत्त्व-निरूपण-व्यवस्था में विरोध आता है।

[१२]

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्ययोग्यतापेक्ष एव तु।
नाणुः कदाचिदात्मा स्याद् देवतानुग्रहादपि ॥

अनुग्रह—देव आदि की कृपा अनुग्राह्य—अनुग्रह करने योग्य—जिस पर अनुग्रह किया जाए, उसकी योग्यता पर निर्भर है। देवता के अनुग्रह से भी परमाणु कभी आत्मा नहीं बन सकता; क्योंकि उस (परमाणु) में वैसी योग्यता नहीं होती।

[१३-१४]

कर्मणो योग्यतायां हि कर्ता तद्व्यपदेशभाक्।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन लोकसिद्धमिदं ननु ॥
अन्यथा सर्वमेवैतदौपचारिकमेव हि।
प्राप्नोत्यशोभनं चैतत् तत्त्वतस्तदभावतः ॥

कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है, इसी कारण आत्मा का कर्मों पर कर्तृत्व घटित होता है। यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष आता है। यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

यदि इसे अन्यथा—अन्य प्रकार से माना जाए तो यह सब, जो हमारे दैनन्दिन जीवन में घटित होता है, औपचारिक मात्र होगा। वास्तविकता न होने से वह अशोभन—अनिष्ट या अवांछित होगा।

[१५]

उपचारोऽपि च प्रायो लोके यन्मुख्यपूर्वकः ।
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्वमित्यमेव व्यवस्थितम् ॥

लोक में उपचार मुख्यपूर्वक होता है—मुख्य को लक्ष्य में रखकर निरूपण में उपचार का व्यवहार होता है। अतएव जगत् का सारा व्यवस्था क्रम समीचीन रूप में चल रहा है।

[१६]

ऐदम्पर्यं तु विज्ञेयं सर्वस्यैवास्य भावतः ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे योगमार्गस्य संभवः ॥

जीव, कर्म, योग्यता, संयोग आदि भावों की जो यथार्थ स्थिति ऊपर प्रतिपादित की गई है, उसे विशेष रूप से जानना, समझना चाहिए। यों होने पर ही योग-मार्ग पर आने की संभावना घटित होती है—वैसे ज्ञान और विश्वास से युक्त साधक का योग-साधना में अग्रसर होना संभव है।

[१७-१८]

पुरुषः क्षेत्रविज्ज्ञानमिति नाम यदात्मनः ।
अविद्या प्रकृतिः कर्म तदन्यस्य तु भेदतः ॥

भ्रांति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम् ।
शास्ता वन्द्योऽविकारी च तथाऽनुग्राहकस्य तु ॥

नाम-भेद से विभिन्न दार्शनिक आम्नायों में मूल तत्त्वों की प्रायः समानता है। जैसे आत्मा को वेदान्त तथा जैनदर्शन में पुरुष, सांख्यदर्शन में क्षेत्रवित् या क्षेत्रज्ञ तथा बौद्धदर्शन में ज्ञान कहा गया है। आत्मेतर तत्सहवर्ती विजातीय तत्त्व वेदान्त और बौद्ध दर्शन में अविद्या, सांख्यदर्शन में प्रकृति तथा जैनदर्शन में कर्म के नाम से अभिहित हुआ है। आत्मा का विजातीय द्रव्य से सम्बन्ध वेदान्त एवं बौद्धदर्शन में भ्रान्ति, सांख्यदर्शन में प्रवृत्ति तथा जैनदर्शन में बन्ध कहा गया है। उसी प्रकार अनुग्राहक—आत्मा पर अनुग्रह या उपकार करने वाला जैनदर्शन में शास्ता, बौद्ध दर्शन में वन्द्य तथा शैव व भागवत परंपरा में अविकारी नाम से सम्बोधित किया गया है।

[१९]

साकल्यस्यास्य विज्ञेया परिपाकादिभावतः ।
औचित्याबाधया सम्यग्योगसिद्धिस्तथा तथा ॥

जब साधक उपर्युक्त तथ्यों को आत्मसात् कर पाता है; जीव तथा कर्म-पुद्गलों के संयोग की एक मोक्षानुकूल परिपक्व स्थिति आती है, जहाँ समुचित धर्म-प्रवृत्ति में बाधा नहीं रहती, तब वह भव्यता—मोक्ष-गमन-योग्य बीज रूप क्षमता द्वारा योगानुभूति प्राप्त करता है, योग-साधना के पथ पर गतिमान् होता हुआ उत्तरोत्तर विकास करता जाता है, सम्यक् योग-सिद्धि प्राप्त करता है।

[२०]

एकान्ते सति तद्यत्नस्तथाऽसति च यद् वृथा ।
तत्तथायोग्यतायां तु तद्भावेनैव सार्थकः ॥

यदि आत्मा को एकान्त-नित्य या एकान्त अनित्य माना जाए तो उस हेतु किये गये प्रयत्न की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जो एकान्ततः नित्य है, उसमें प्रयत्न द्वारा कोई परिवर्तन आ नहीं सकता। जो एकान्त रूप में अनित्य है, उसके लिए प्रयत्न की कोई अपेक्षा नही होती। अतः आत्मा को पूर्वोक्त रूप में योग्यता सहित—कर्म-बन्ध, कर्म-निर्जरण आदि की क्षमता से युक्त (परिणामि-नित्य) मानने पर ही प्रयत्न की सार्थकता या प्रयोजनीयता है।

[२१]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
युज्यते एवमेवेति वक्ष्याम्यूर्ध्वमदोऽपि हि ॥

व्यक्ति की जीवन-निर्मिति में भाग्य तथा पुरुषार्थ—दोनों स्पष्टतः समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, यह मानना वास्तव में युक्तियुक्त है। आगे इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा होगी।

[२२]

लोकशास्त्राविरोधेन यद्योगो योग्यतां व्रजेत् ।
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु हन्त ! नेष्टो विपश्चिताम् ॥

लोक तथा शास्त्र से जिसका अविरोध हो—जो अनुभव-संगत तथा शास्त्रानुगत हो, वही योग योग्य—आदेय या अनुसरणीय है। मात्र जो जड़ श्रद्धा पर आधृत है, विवेकशील पुरुषों के लिए वह अभीप्सित नहीं होता—विज्ञजन उसे उपादेय नही मानते, नहीं चाहते।

[२३]

वचनादस्य संसिद्धेरेतदप्येवमेव हि ।
दृष्टेष्टाबाधितं तस्मादेतन्मृग्यं हितैषिणा ॥

आगम—शास्त्र-वचन अथवा योगसिद्ध पुरुषों की वाणी द्वारा योग सम्यक् सिद्ध है। वह तत्त्वतः वैसा ही है, जैसा इन द्वारा आख्यात हुआ है। दृष्ट या अनुभूत रूप में स्वरूप, परिणाम आदि की दृष्टि से वह उसी रूप में उपलब्ध है अर्थात् वह दृष्ट द्वारा बाधित नहीं हैं और न उससे अभीष्ट ही बाधित होता हैं। दूसरे शब्दों में, क्योंकि वह यथार्थ की पृष्ठभूमि पर टिका है, अतः उससे अभीप्सित फल की सिद्धि होती हैं। आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह उसका मार्गण—गवेषण करे; उसे यथावत् रूप में समझ कर अपनाए।

[२४]

दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् ।
असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं धाष्ट्यसूचकम् ॥

दृष्ट—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीतियोग्य तत्त्व भी जिन शास्त्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता—जिनका तद्विषयक प्रतिपादन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के भी विरुद्ध होता हैं, उनके आधार पर अदृष्ट में प्रवृत्त होना, प्रवृत्त व्यक्तियों की अन्धश्रद्धा की दासता का परिचायक है। उससे क्या सधे ?

[२५]

प्रत्यक्षेणानुमानेन यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते ।
दृष्टेऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात् प्रवृत्तिस्तत एव तु ॥

जिन शास्त्रों के अनुसार यथार्थ-निर्णय के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष, अनुमान

आदि तत्त्व-सिद्धि में बाधक नहीं होते—जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से अनुगत या संगत हैं, उन्हीं के आधार पर दृष्ट तथा अदृष्ट में प्रवृत्त होना उपयुक्त है।

[२६]

अतोऽन्यथा प्रवृत्तौ तु स्यात् साधुत्वाद्यनिश्चितम्।
वस्तुतत्त्वस्य हन्तैवं सर्वमेवासमंजसम्॥

जो इन (पूर्व विविक्त) तथ्यों के प्रतिकूल प्रवृत्तिशील होता है, वह वस्तुतत्त्व की सत्यता, असत्यता का निश्चय नहीं कर पाता। अतः उस द्वारा साधनाक्रम में क्रियमाण—उसका समग्र प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता है।

[२७]

तद्दृष्टाद्यनुसारेण वस्तुतत्त्वव्यपेक्षया।
तथा तयोवितभेदेऽपि साध्वी तत्त्वव्यवस्थितिः॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि के आधार पर वस्तु-तत्त्व के परीक्षण से भिन्न-भिन्न दार्शनिक परंपराओं में प्रवृत्त कथन-भेद के बावजूद यथार्थ तत्त्व का अवबोध होता है।

[२८]

अमुख्यविषयो यः स्यादुक्तिभेदः स बाधकः।
हिंसाऽहिंसादिवद् यद्वा तत्त्वभेदव्यपाश्रयः॥

गौण विषयों में जो कथन-भेद (साथ ही साथ विचार-भेद) है, वह, हिंसा और अहिंसा जैसे परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार भिन्नता युक्त है। वास्तव में वहाँ तत्त्व-स्वीकार में ही भेद है।

[२९]

मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद् विपश्चिताम्।
हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतो यथा॥

मुख्य विषय में—मौलिक तत्त्वों में शब्द-भेद विज्ञजनों के लिए बाधक नहीं होता। जैसे हिंसा-विरति को पातंजलयोग में 'यम' कहा है और जैन दर्शन में व्रत; यहाँ शब्द दो हैं पर तथ्य एक ही है।

योग के भेद—

[३०]

मुख्यतत्त्वानुवेधेन स्पष्टलिङ्गान्वितस्ततः ।
युक्त्यागमानुसारेण योगमार्गोऽभिधीयते ॥

मुख्य तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए, लक्षणों का स्पष्टतया विश्लेषण करते हुए शास्त्रानुसार तथा युक्ति-पूर्वक योगमार्ग आख्यात किया जा रहा है।

[३१]

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय—ये योग हैं। क्योंकि ये आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं। ये पाँचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ—उत्कृष्ट हैं। अर्थात् अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृत्तिसंक्षय—क्रमशः एक-एक से उच्चतर यौगिक विकास के सूचक हैं।

[३२]

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः ।
सास्रवोऽनास्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥

एक अन्य प्रकार से तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्रव तथा अनास्रव—योग के ये छः भेद हैं।

[३३-३४]

तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया ।
अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥
सास्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्रवः परः ।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥

यथाविधि तत्त्वतः—वास्तव में योग का अनुसरण तात्त्विक योग है।

केवल लोकरंजनार्थ योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है। वह सानुबन्ध योग है, जो लक्ष्य स्वायत्त करने तक अविच्छिन्न—बिना रुकावट गतिमान रहता है। जिसमें बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध आता रहता है, वह निरनुबन्ध योग है। जो संसार को दीर्घ—लम्बा बनाता है—जन्म-मरण के चक्र को बढ़ाता है, वह सास्रव योग है। जो इस चक्र को रोकता है, मिटाता है, वह अनास्रव योग है।

ये नाम योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक है।

[३५]

स्वरूपं संभवं चैव वक्ष्याम्यूर्ध्वमनुक्रमात्।
अमीषां योगभेदानां सम्यक् शास्त्रानुसारतः॥

आगे शास्त्रानुसार क्रमशः योग के इन भेदों के स्वरूप, उत्पत्ति आदि का भली भांति विवेचन करूंगा।

योग का माहात्म्य—

[३६]

इदानीं तु समासेन योगमाहात्म्यमुच्यते।
पूर्वसेवाक्रमश्चैव प्रवृत्त्यङ्गतया सताम्॥

अब संक्षेप में योग के महत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। साथ ही साथ पूर्व सेवा—योग-साधना में आने से पूर्व सेवनीय—आचरणीय कार्य-विधि का भी विवेचन किया जारहा है, जिससे सत्पुरुष योग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

[३७]

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रह॥

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

[३८]

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा ।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—संसार में बार-बार जन्म-मरण में आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नहीं होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म, मरण से छुटकारा हो जाता है।

[३९]

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥

योग रूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, कुण्ठित हो जाते हैं—योग-रूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

[४०]

अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः ।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

[४१]

मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः ।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः ॥

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योग रूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।

[४२]

अमुत्र संशयापन्नचेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।
सत्स्वप्नप्रत्ययादिभ्यः संशयो विनिवर्तते ॥

परभव या परलोक के सम्बन्ध में जिनका चित्त संशयपूर्ण होता है, शुभ स्वप्न आदि द्वारा उन्हें यथार्थ प्रतीति—अनुभूति होती है, जिससे वह संशय विनिवृत्त हो जाता है—मिट जाता है। अर्थात् योगाभ्यासी को योग के प्रभाव से ऐसे उत्तम सपने आते हैं, जो उसका सन्देह दूर कर देते हैं।

[४३]

श्रद्धालेशान्नियोगेन बाह्ययोगवतोऽपि हि ।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्टदेवतादर्शनादयः ॥

जो योग के केवल बाह्य रूप का पालन करता है, बहुत सामान्य श्रद्धा लिए रहता है, उसे भी निश्चित रूप में—अवश्य शुभ स्वप्न आते हैं, इष्ट देव के दर्शन आदि होते हैं।

[४४]

देवान् गुरून् द्विजान् साधून् सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥

उत्तम साधनाशील योगी स्वप्न में प्रायः देवताओं, गुरुजनों, ब्राह्मणों तथा साधुओं को प्रसन्न मुद्रा में सत्प्रेरणा प्रदान करते हुए देखते हैं।

[४५]

नोदनाऽपि च सा यतो यथार्थैवोपजायते ।
तथा कालादिभेदेन हन्त नोपप्लवस्ततः ॥

वह प्रेरणा समय पाकर सत्य सिद्ध होती है। ऐसे स्वप्न कोई मानसिक अनवस्थता या मनोविकार नहीं हैं।

[४६]

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च सत्यस्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥

स्वप्नोपयोगी मन्त्रों के द्वारा सत्य—यथार्थ स्थिति का सूचक स्वप्न आता है। विद्वानों में निर्विवाद रूप में यह सुप्रसिद्ध है—विद्वान सर्वसम्मत रूप में ऐसा मानते हैं।

[४७]

न ह्येतद् भूतमात्रत्वनिमित्तं संगतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं यन्नैवंविधगोचरं ॥

यदि कहा जाए, ऊपर वर्णित सब मात्र भौतिक कारणों पर आश्रित हैं तो यह संगत—युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अयोगी—जो योगाभ्यासी नहीं हैं, उन्हें वैसे स्वप्न आदि नहीं दिखाई देते।

[४८]

प्रलापमात्रं च वचो यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे मोक्षे चानन्द उत्तमः ॥

प्रत्यक्ष रूप में देखे, जाने बिना किसी के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रलाप मात्र है—केवल बकवास है। यदि यों कहते हैं तो वे जरा बतलाएँ—स्वर्ग में अप्सराएँ है, मोक्ष में परम आनन्द है, यह सब प्रत्यक्षतः किसने देखा।

मीमांसकों को उद्दिष्ट कर ग्रन्थकार ने यह कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि मीमांसक अप्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय दर्शन को अस्वीकार करते हैं।

[४९]

योगिनो यत् समध्यक्षं ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्मादेरपि युक्तोऽयं तत एवेति चिन्त्यताम् ॥

यदि कोई कहे, योगी की यह विशेषता है, उसकी दृष्टि में वह सब (स्वर्ग में अप्सराएँ है, इत्यादि) प्रत्यक्ष है, तदनुसार अप्रत्यक्ष भी दृष्ट है तो

पित्रोः सम्यगुपस्थानाद् ग्लानभैषज्यदानतः ।
देवादिशोधनाच्चैव भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥

ब्रह्मचर्य, तपश्चरण, वेदादि सत् शास्त्रों का अध्ययन, विद्या व मन्त्र की आराधना, उत्तम तीर्थों का आसेवन, माता-पिता की सम्यक् सेवा-शुश्रूषा, रोगियों को औषध-दान, देवस्थान—पूजास्थान आदि का सम्मार्जन, सफाई—इन शुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य में पूर्व जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

[५६]

अतएव न सर्वेषामेतदागमतेऽपि हि ।
परलोकाद् यथैकस्माद् स्थानात् तनुभृतामिति ॥

जैसे किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में गये लोगों में सबको पिछले स्थान से सम्बद्ध घटनाएँ स्मरण नहीं रहतीं, उसी प्रकार परलोक से नये जन्म में आये सभी प्राणियों को अपना पूर्वभव—पिछला जन्म, कार्य, घटनाक्रम आदि स्मरण नहीं रहते।

[६०]

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः ।
सर्वेषामनुभूतार्थस्मरणं स्याद् विशेषतः ॥

जो उन्माद—मानसिक विक्षिप्तता या पागलपन से पीड़ित होते हैं, प्रेत-बाधा से ग्रस्त होते हैं, उन्हें भी अपने द्वारा पहले दृष्ट, अनुभूत वस्तुएं, जीवन में घटित घटनाएँ विशेषतः स्मरण नहीं रहतीं।

[६१]

सामान्येन तु सर्वेषां स्तनवृत्त्यादिचिन्हितम् ।
अभ्यासातिशयात् स्वप्नवृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥

सामान्यतः सभी प्राणियों में यह दृष्टिगोचर होता है, ज्यों ही वे जन्म लेते हैं, दूध के लिए मां के स्तनों की ओर स्वयं प्रवृत्त होते हैं। जिन कार्यों का जीवन में सतत अभ्यास होता है, जिन पर बार-बार चिन्तन-विमर्श चलता रहता है, स्वप्न में प्रायः वे ही दीखते हैं। उसी प्रकार अभ्यासा-

तिशय—अनेक जन्मों के अत्यधिक अभ्यास के कारण नवजात शिशु में यह प्रवृत्ति होती है। मां के स्तनों से दूध पीते रहने के प्रसंग जन्म-जन्मान्तर में न जाने कितनी बार उसके घटित हुए हैं। उसी चिर अभ्यास-जनित संसार-स्मृति का परिणाम माँ के स्तनों का दूध पीने के उपक्रम के रूप में परिलक्षित होता है।

[६२]

स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासाद् विशिष्टस्मृतिवर्जिता।
जाग्रतोऽपि क्वचित् सिद्धा सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम्॥

पूर्वतन अभ्यासवश स्वप्न में जो अनुभव किया जाता है, कई बार ऐसा होता है, कुछ समय बाद स्मरण नहीं रहता। इतना ही नहीं, कभी-कभी जागरित अवस्था में भी मन में उठे विचार बाद में याद नहीं रह पाते। यह सब स्मृति-दौर्बल्य के परिणाम हैं। इस सम्बन्ध में सूक्ष्म बुद्धि से विचार करें।

[६३]

श्रूयन्ते च महात्मान एते दृश्यन्त इत्यपि।
क्वचित् संवादिनस्तस्मादात्मादेहंन्त ! निश्चयः॥

ऐसे महापुरुष सुने जाते हैं, कहीं-कही देखे भी जाते हैं, जिनसे जाति-स्मरण ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। अर्थात् ऐसे योगसिद्ध महा-पुरुष भी यहाँ है, जिन्हें जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त होता है। इस आधार पर निश्चित रूप से आत्मा आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है।

[६४]

एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम्।
अहो यन्निश्चितैवेयं नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित्॥

इस प्रकार योग ही आत्मा आदि तत्त्वों की सिद्धि का कारण है। पदार्थों के स्वरूप आदि की निश्चित प्रतीति या अनुभूति योग से ही साध्य है, अन्य से कहीं नहीं।

[६५]

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥

विवेकशील पुरुष को तत्त्व-प्रसिद्धि—तत्त्वों की प्रतीति, अभिव्यक्ति हेतु योग में महान्—विपुल प्रयत्न करना चाहिए—योग-साधना में विशे रूप से समुद्यत रहना चाहिए।

[६६-६७]

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥
वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥

तपश्चरण द्वारा जिन्होंने अपना मनोमल मिटा डाला, ऐसे योग-वेत्ता सत्पुरुषों का भावी योगियों—योग-साधना में प्रविष्ट होने के इच्छुक पुरुषों के हित के लिए मोह के अंधेरे को मिटाने हेतु दीपक के सदृश वचन है—"जो निश्चित रीति से—नैयायिक या तार्किक शैली से पक्ष-विपक्ष में, अपनी-अपनी दलीलें उपस्थित करते हुए वाद-प्रतिवाद—खण्डन-मण्डन में लगे रहते हैं, वे तत्त्वान्त—तत्त्व-निर्णय तक नहीं पहुँच पाते। उनकी स्थिति कोल्हू के बैल जैसी होती है, जो कोल्हू के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है पर कभी किसी निश्चित छोर पर नहीं पहुँचता।"

अध्यात्म—

[६८]

अध्यात्ममत्र परम उपायः परिकीर्तितः ।
गतौ सन्मार्गगमनं यथैव ह्यप्रमादिनः ॥

पदार्थों के सत्य स्वरूप के अवबोध तथा साधना की यात्रा में प्रमाद-रहित होकर चलते रहने में अध्यात्म परम उपाय है—महान् अमोघ साधन है।

[६९]

मुक्त्वाऽतो वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥

अतः वाद-विवादमय संघर्ष का परित्याग कर अध्यात्म का चिन्तन करें। अज्ञानरूप सघन अन्धकार को दूर किये बिना ज्ञेय—जानने योग्य तत्त्व में ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् वाद-विवादमय संघर्ष अज्ञान-प्रसूत अन्धकार की तरह है, जो अध्यात्म-साधना में नितान्त बाधक है।

[७०]

सदुपायाद यथैवाप्तिरुपेयस्य तथैव हि ।
नेतरस्मादिति प्राज्ञः सदुपायपरो भवेत् ॥

प्राप्त करने योग्य लक्ष्य या वस्तु की प्राप्ति सदुपाय—समुचित, समीचीन उपाय से ही संभव है, अनुचित, अनुपयुक्त उपाय से नहीं। अतः प्रज्ञाशील पुरुष को चाहिए, वह अपना ध्येय प्राप्त करने हेतु उत्तम, उचित उपाय का अवलम्बन करे।

[७१]

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्यः संदर्शितो बुधैः ।
दुरापं किन्त्वदोपीह भवाब्धौ सुष्ठु देहिनाम् ॥

ज्ञानी जनों ने वस्तु-स्वरूप के यथार्थ बोध तथा साधना में अग्र गति हेतु अध्यात्म के अतिरिक्त कोई और सदुपाय नहीं बताया है। अर्थात् अध्यात्म ही इनका एकमात्र सुन्दर उपाय है किन्तु संसार-सागर में निमग्न देहधारियों—प्राणियों के लिए अध्यात्म को उपलब्ध कर पाना कुछ कठिन है।

[७२]

चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित, शुक्लपाक्षिक—मोहनीय कर्म के तीव्र भाव के अन्धकार से रहित, भिन्नग्रन्थि—जिसकी मोह प्रसूत कर्मग्रन्थि टूट गई है, चरित्री—जो चारित्र-परिपालन के पथ पर समारूढ़ है, (वह) अध्यात्म का अधिकारी कहा गया है।

[७३]

प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा ।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥

इन तीनों श्रेणियों से बहिर्भूत—इतर प्राणी अति दीर्घ भव-भ्रमण—संसार के जन्ममरणमय चक्र में पुनः पुनः परिभ्रमण, आवागमन, आत्मपरिणामों की अत्यधिक मलिनता, मिथ्या तत्त्व में अभिनिवेश—दुराग्रह के कारण अध्यात्म को नहीं पा सकते ।

[७४-७५]

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः ।
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा गताः ॥
सर्वेषामेव सत्त्वानां तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।
नान्यथा संविदेतेषां सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥

यह संसार अनादि है । इसमें मनुष्य-गति, देव-गति, नरक-गति तथा तिर्यञ्च-गति के अन्तर्गत अनेक योनियाँ हैं । जीव अनन्त पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता है । ऐसे अनन्त पुद्गल-परावर्त व्यतीत हो चुके है। यह भव-भ्रमण का चक्र सभी प्राणियों के अपने अपने स्वभाव के कारण है । यदि ऐसा नहीं होता तो पुद्गल-परावर्त की कभी परिमितता नहीं होती । इस पर सूक्ष्म बुद्धि से चिन्तन करें ।

[७६]

यादृच्छिकं न यत्कार्यं कदाचिज्जायते क्वचित् ।
सत्त्वपुद्गलयोगश्च तथा कार्यमिति स्थितम् ॥

इस जगत् में जो भी कार्य है, वह यदृच्छा—अकस्मात्—कार्य-कारण-परंपरा के बिना कहीं भी नहीं होता । वह आत्मा तथा पुद्गल के संयोग से होता है । यही जगत् का स्वभाव है ।

[७७]

चित्रस्यास्य तथाभावे तत्स्वाभाव्यदृते परः ।
न कश्चिद्धेतुरेवं च तदेव हि तथेष्यताम् ॥

आत्मा का कर्म के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से संयोग होता है। अतएव उसके भिन्न-रूप देखने में आते है। इस भिन्नता का कारण जीव के अपने स्वभाव या प्रकृति को छोड़कर और दूसरा नहीं है। वास्तव में यही यथार्थ कारण है, ऐसा मानना चाहिए।

[७८]

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम् ।
तदन्यवादाभावश्चेन्न तदन्यानपोहनात् ॥

स्वभाव से कार्य होता है, ऐसा मानने में स्वभाववाद का दोष आता है, यों आरोप किया जा सकता है। पर जरा बतलाएँ, इसमें क्या हानि है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस वाद के स्वीकार का अभिप्राय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व की कारण रूप में अस्वीकृति है। वास्तव में यहां ऐसा आशय नहीं है।

[७९]

कालादिसचिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः ।
सर्वत्र व्यापकत्वेन न च युक्त्या न युज्यते ॥

काल आदि के सहयोग से कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा महापुरुषों ने स्वीकार किया है। काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ तथा कर्म—ये पाँचों निमित्त कारण सर्वत्र—उपादान कारण में एवं उपादेय कार्यों में परिव्याप्त रहते हैं। युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता हो ऐसा नहीं है, यह सिद्ध होता है।

[८०]

तथात्मपरिणामात् तु कर्मबंधस्ततोऽपि च ।
तथा दुःखादि कालेन तत्स्वभावादृते कथम् ॥

आत्मा के परिणाम से कर्म-बन्ध होता है। बन्धावस्था के अनुरूप विपाकोदय होने पर कर्म यथासमय दुःख, सुख आदि के रूप में फल देता है। आत्मा के स्वभाव के बिना यह सब कैसे संभव हो ?

[८१]

वृथा कालादिवादश्चेन्न तद्बीजस्य भावतः ।
अकिंचित्करमेतच्चेन्न स्वभावोपयोगतः ॥

स्वभाव मानने से काल आदि वृथा सिद्ध होंगे, ऐसा नहीं है। क्योंकि काल, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ के बीज स्वभाव में सन्निहित है। यदि यों कहा जाये कि बीज तो अकिञ्चित्कर हैं—वे स्वयं कुछ कर नहीं सकते—यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि स्वभाव में उनका उपयोग है—स्वभाव में वे सहायक हैं, जिससे फल-निष्पत्ति सधती है।

[८२]

सामग्र्याः कार्यहेतुत्वं तदन्याभावतोऽपि हि ।
तदभावादिति ज्ञेयं कालादीनां वियोगतः ॥

समग्र कारण-सामग्री का सहयोग कार्य की निष्पन्नता में हेतु होता है। यदि उपादान के अतिरिक्त दूसरे किसी निमित्त का अभाव हो, कारण-सामग्री में उसका संयोग न रहे तो कार्य नहीं होता। इसलिए समय आदि का संयोग भी कार्य-निष्पत्ति में कारणभूत है, ऐसा मानना चाहिए।

[८३]

एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम् ।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं लेशतस्तूक्तमेव हि ॥

प्रस्तुत विषय में अन्यत्र विस्तार से निरूपण किया गया है अतः यहाँ इसकी विशेष चर्चा नहीं की गई है, संक्षेप में कहा गया है।

लोकपंक्ति—

[८४-८५]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधना ।
नाध्यात्मयोगभेदत्वादावर्तेष्वपरेष्वपि ॥

तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानालोचनवर्जिताः ।
सद्वर्मायतरन्त्येषु न सत्त्वा गहनान्धवत् ॥

उक्त विषय में और विवेचन न कर हम प्रस्तुत विषय—अध्यात्म-योग पर आ रहे हैं, जो चरम पुद्गलावर्त में प्रविष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है, दूसरों को नही। क्योंकि वे (दूसरे) तीव्र पापाचरण में ग्रस्त होते हैं, वे ज्ञान रूपी नेत्र से रहित होते हैं। गहन वन में खोये हुए अन्धे की तरह वे सन्मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[८६]

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादराः ॥

चरमपुद्गलावर्ती प्राणियों के अतिरिक्त अन्य लोग संसार में रचे-पचे रहते हैं—वे सांसारिक भोगोपभोग में आनन्द लेते हैं। वे प्रायः आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा तथा मैथुन-संज्ञा—इन तीन अन्तर्बुभुक्षाओं में लिप्त रहते हैं, दुःखो होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते है, जो धर्म-क्रिया भी करते हैं किन्तु केवल लोक-व्यहार साधने के लिए। वे भवाभिनन्दी कहे जाते हैं।

[८७]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—तुच्छ, लाभरति—हर समय अपने स्वार्थ में लीन रहने वाला, मत्सरी—ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ—धूर्त, जालसाज, अज्ञ—अज्ञानी होता है तथा वह निरर्थक कार्यों में लगा रहता है।

[८८]

लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपक्तिरुदाहृता ॥

लोकाराधन—लोगों को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना द्वारा जो सत्क्रिया की जाती है, उसे लोकपक्ति कहा गया है।

परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तिम पुद्गल परावर्त में आत्मा योग को प्राप्त कर लेती है।

[९७]

अत एवेह निर्दिष्टा पूर्वसेवाऽपि या परैः ।
साऽऽसन्नान्यगता मन्ये भवाभिष्वङ्गभावतः ॥

अन्य योगवेत्ताओं ने पूर्वसेवा को योग के अंगरूप में आख्यात किया है। पर वह अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में होती है, तब उसमें सांसारिक आसक्ति बनी रहती है।

[९८]

अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो मुक्तिमत्र तु ॥

जो अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाओं हैं, जिनकी अन्तरात्मा संसार-सागर से निकल जाने के लिए तिलमिलाती है—सांसारिक भोगोपभोगमय प्रलोभनों के प्रति जिनके मन में जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो रहा है, उन द्वारा समाचरित होते पूर्वसेवा रूप कार्य इस श्रेणी में नहीं आते। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा करेंगे।

[९९]

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमलं मनः ।
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन यदमीषां महात्मनाम् ॥

अपुनर्बन्धक आदि सात्त्विकचेता पुरुषों का निर्मल मन सद्बुद्धि—सम्यक्ज्ञान आदि की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता—आगे से आगे समुन्नत होती गुणस्थान-परंपरा के कारण मुक्ति-परायण होता है, यह युक्ति-युक्त है।

गोपेन्द्र का अभिमत—

[१००-१०४]

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः ।
संगीतमुक्तिमेवेन यद् गोपेन्द्रमिदं वचः ॥

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथाऽत्यन्तं विपर्ययः ।
तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्तनियोगतः ॥

जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित् सर्गो निवर्तते ।
नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥

ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः ।
मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहितं मतम् ॥

जिन्होंने योग-मार्ग में श्रम किया है—उच्चयोगाभ्यास किया है, उन इतर परंपराओं के योगवेत्ताओं ने वचन-भेद से इसी बात का निरूपण किया है—इसी तथ्य की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ आचार्य गोपेन्द्र ने कहा है—

जब तक प्रकृति अनिवृत्ताधिकारा रहती है—पुरुष पर छाया हुआ उसका अधिकार सिमट नहीं जाता, तत्त्व-ज्ञान द्वारा पुरुष प्रकृति के जंजाल से पृथक हो जाने की स्थिति लाने में तत्पर नहीं होता, तब तक पुरुष (आत्मा) की तत्त्व-मार्ग—योग-मार्ग में जिज्ञासा ही नहीं होती।

जैसे किसी क्षेत्र—स्थान विशेष में व्यक्ति को कोई रोग होजाए, तो वह भ्रमवश वहाँ से सम्बद्ध हवा, पानी आदि पदार्थों के प्रति एक भ्रान्त धारणा बना लेता है अर्थात् वह मान बैठता है, उन्हीं (हवा, पानी आदि) की प्रतिकूलता से उसे रोग हुआ है, वैसे ही प्रकृति-अधिकृत पुरुष को अपने अज्ञानरूप दोष के कारण यथार्थ विपरीत प्रतिभासित होता है।

अधिक क्या, योग की जिज्ञासा तक प्राप्त करने की स्थिति में आने हेतु प्रकृति-अधिकृत पुरुष को दीर्घ काल में से गुजरना पड़ता है। जब तक पाप—शुद्धात्मशक्ति के निरोधक राजस, तामस प्राकृत भाव—कल्मष अधिकांशतः क्षीण नहीं हो जाते, पुण्यमयी बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

सदविवेकपूर्ण बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष (आत्मा) का कल्याण होता

[१११-११५]

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥
अभ्युत्थानादियोगश्च तदन्ते निभृतासनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥
साराणां च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा ॥
त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहुर्धर्माद्यपीडया ॥
तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।
तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥

इन पूज्य गुरुजनों को तीनों सन्ध्या—प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल प्रणाम करना, वैसा अवसर न हो—समीप उपस्थित होकर प्रणाम करने का मौका न हो तो चित्त में उन्हें आदर व श्रद्धापूर्वक स्मरण करना—मन से प्रणाम करना, वे (गुरुजन) यदि अपनी ओर आते हों तो उठकर उनके सामने जाना, उनकी सन्निधि में चुपचाप बैठना, अयोग्य स्थान में उनका नाम न लेना—नामोच्चारण न करना, कहीं भी उनका अवर्णवाद निन्दा न सुनना, यथाशक्ति उत्तम वस्त्र आदि भेंट करना, परलोक में श्रेष्ठ फलप्रद धर्म-क्रिया के संपादन में उन्हें सदा सहयोग देना, जो उन्हें इष्ट न हों—जिन्हें वे पसन्द नहीं करते हों, वैसे कार्यों का त्याग करना, जो उन्हें इष्ट हों—जिन्हें वे पसन्द करते हों, वैसे कार्य करना, औचित्यपूर्वक इन दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करना, जिससे उनके धर्माराधन आदि में बाधा, असुविधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना, उनके द्रव्य का धर्मस्थान में विनियोग करना, स-समारोह उनके बिम्ब स्थापित करना, उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया—मरणोपरान्त किये जाने वाले उनके दाह-संस्कार आदि कार्य अत्यन्त सम्मानपूर्वक समायोजित करना—ये सब गुरुजन के पूजन के अन्तर्गत है ।

[११६-११७]

पुष्पैश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥
अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम् ॥

पुष्प, नैवेद्य, वस्त्र तथा सुन्दर स्तोत्रों द्वारा सभी देवों का, उनमें परस्पर भेद न करते हुए सामान्यतः अथवा अधिमुक्तिवश—आस्था व विश्वास के साथ पवित्रता एवं श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहिए। उत्तम गृहस्थों के लिए सभी देव माननीय है।

यहाँ सभी देवों में भेद न करने की जो बात कही गई है, वह साधनोद्यत पुरुष की प्रारम्भिक विकासापेक्ष भूमिका से सम्बद्ध है, जहाँ उसे अपने मानस में साधनोपयोगी निर्मल, परिपक्व पृष्ठभूमि तैयार करनी होती है।

अधिमुक्ति का सम्बन्ध उन साधकों से है, जो साधना में ऊँचे उठे हुए हैं, जिनका बोध परिपक्व है, जो दृढ़ आस्था या विश्वास की मनःस्थिति में आने में समर्थ हैं।

[११८]

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो सभी देवों को नमस्कार करते हैं, किसी एक ही देव तक सीमित नहीं रहते, जो इन्द्रियजयी होते है, क्रोध को नियन्त्रित रखते हैं, वे साधना-पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाले दुर्गों—संकटों, कठिनाइयों या विघ्नों के गढ़ों को लांघ जाते है—पार कर जाते हैं।

[११९]

चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद् विशेषेणादिकर्मणाम् ॥

सौम्यचेता पुरुष इस विषय में 'चारि-संजीवनी-चार-न्याय, को ही

समुचित मानते हैं। अन्यथा विशेषतः नवाभ्यासी प्रारंभिक साधकों का अभीप्सित सिद्ध नहीं होता।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एक कहानी के रूप में है। कहानी यों है:—

एक स्त्री थी। वह चाहती थी, उसका पति उसके वश में हो। उसने कहीं से दो प्रकार की जड़ियों का ज्ञान प्राप्त किया। पहली को खिला देने से मनुष्य बैल बन जाए और दूसरी को खिलाने से वापस मनुष्य बन जाए। वह अपने पति को पहली जड़ी खिलाकर बैल बना देती और दूसरी जड़ी खिलाकर वापस पुरुष बना लेती। संयोग ऐसा बना--एक दिन वनस्पति के जंगल में, जहाँ से वह जड़ियाँ लाती थीं, दूसरी जड़ी की पहचान भूल गई। वह अत्यन्त विषादग्रस्त हो गई--क्या करे, उसका पति फिर कभी मनुष्य नही बन पायेगा।

उस जगल में से गुजरते हुए किसी बुद्धिमान् मनुष्य ने उस स्त्री को विलपते--कलपते देखा। सब कुछ जानकर वह बोला--इसमें विषाद कैसा? वह दूसरी जड़ी इस जंगल में ही तो है। इस बैल को जंगल में खुला छोड़ दो। अन्यान्य वनस्पतियों के साथ वह जड़ी भी संभवतः उसके मुँह में पड़ जाए और वह पुनः मनुष्य बन जाए। यह सुनकर उस स्त्री ने बैल को जंगल में खुला छोड़ दिया। वह वनस्पतियाँ चरने लगा। संयोगवश दूसरी जड़ी उसके मुँह में पड़ गई। वह वापस पुरुष हो गया।

आचार्य हरिभद्र का कहना है कि इस कथा के माध्यम से जो बताया गया है, वह तथ्य उत्तम जनों द्वारा स्वीकृत हैं। ऐसी सरिणि के बिना इष्ट-सिद्धि नहीं होगी। क्योंकि साधारण जनों में किसे मालूम, कौन यथार्थतः नमस्कार्य--वन्द्य है।

[१२०]

गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथाऽत्मनः ॥

कोई व्यक्ति किसी देव-विशेष में अधिक गुण माने अथवा अपने द्वारा

स्वीकृत आचार-विधि में, तो इसमें कोई हानि नहीं है। अन्य देवों के साथ द्वेष न रखते हुए वह वैसा भले ही करे।

[१२१]

पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥

अपने पोष्यवर्ग—अपने ऊपर आश्रित जन के लिए कोई असुविधा पैदा न करते हुए, अपने हित में बाधा न लाते हुए, साधक को चाहिए कि वह दीन आदि वर्ग को विधिवत्—औचित्यपूर्वक दान दे। ऐसा दान समुचित है।

[१२२]

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र-मपचास्तु विशेषतः ।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन वर्तन्ते ये सदैव हि ॥

व्रत-पालक, साधुवेश में स्थित, सदा अपने सिद्धान्त के अविरुद्ध चलने वाले जन दान के पात्र है, उनमें भी विशेषत. वे, जो अपने लिए भोजन नहीं पकाते।

[१२३]

दीनान्धकृपणा ये तु व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।
निः स्वाः क्रियान्तराशक्ता एतद्वर्गो हि मीलकः ॥

जो कार्य करने में अक्षम है, अन्धे हैं, दुःखी हैं, विशेषतः रोग-पीड़ित हैं, निर्धन है, जिनके जीविका का कोई सहारा नहीं है, ऐसे लोग भी दान के अधिकारी हैं।

[१२४]

दत्तं यदुपकाराय द्वयोरप्युपजायते ।
नातुरापथ्यतुल्यं तु तदेतद्विधिवन्मतम् ॥

जो दिया हुआ, दाता और गृहीता दोनों के लिए उपकारजनक होता है, वह दान उपयुक्त दान है। दान बीमार को अपथ्य दिये जाने जैसा नहीं चाहिए। अर्थात् किसी रुग्ण व्यक्ति को कोई सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थ

दे, जो उसके लिए अहितकर हो, तो वह सर्वथा अनुचित है। इसी प्रकार दिया गया दान लेने वाले के लिए अहितकर न होकर हितप्रद होना चाहिए और उसी तरह देने वाले के लिए भी।

[१२५]

धर्मस्यादिपदं दानं, दानं दारिद्र्यनाशनम् ।
जनप्रियकरं दानं, दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥

दान धर्म के चार[1] पदों में प्रथम पद है। दान दारिद्र्य—क्लेश का नाशक है। दान लोकप्रियता देता है। दान यश आदि का संवर्धन करता है।

दान से संबद्ध इस विवेचन की गहराई में जाएँ तो प्रतीत होगा कि आचार्य हरिभद्र जहाँ बहुत बड़े दार्शनिक, तत्त्व-निष्णात मनीषी थे, वहाँ अत्यन्त व्यावहारिक भी थे। उन्होंने दान के प्रसंग में जो यह सूचित किया है कि अपने पोष्यवर्ग—आश्रित जन, पारिवारिक जन एवं भृत्यवृन्द आदि को कष्ट न हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। ऐसे पुण्यलोभी भावुक दानी भी यत्र-तत्र देखे जाते हैं, जिनके घर वाले या उन पर निर्भर लोग कष्ट पाते रहते हैं, असुविधाएँ झेलते रहते हैं और वे पुण्य के लोभ में अन्यों को दान देते जाते हैं। आचार्य ने यहाँ अपने आश्रितों के प्रति हर किसी का जो कर्त्तव्य है, उसे बड़ी सुन्दरता से सुझाया है।

[१२६-१३०]

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः ॥

सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं तद्वत् संपदि नम्रता ॥
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥

---

१. धर्म के चार पद—दान, शील, तप, भावना।

असद्व्ययपरित्यागः स्थाने चैतत्क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः प्रमादस्य विवर्जनम् ॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥

लोक-निन्दा से भय, सहायतापेक्षी जनों को सहयोग करने में उत्साह, दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार या सहयोग के लिए कृतज्ञ भाव, प्रज्ञापूर्ण शिष्टता, निन्दा का सर्वत्र परित्याग, सत्पुरुषों की गुण-प्रशस्ति. आपत्ति या विपन्नता में अत्यन्त अदीन-भाव, सुदृढ़ सहिष्णुता, संपत्ति या संपन्नता में नम्रता, बोलने के प्रसंग में मितभाषिता एवं अविसंवादिता—अपनी बात अपने ही कथन से न काटना—संगतभाषिता, ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन, कुल क्रमागत धर्म-कृत्यों का अनुसरण, असद्व्यय का परित्याग—अयोग्य कार्यो में धन खर्च न करना, योग्य कार्यों में धन खर्च करना, प्रमुख या प्राथमिक कार्यों में अनिवार्य तत्परता, प्रमाद—आलस्य का वर्जन, लोकाभिमत आचार का अनुवर्तन, उचित बात का सर्वत्र परिपालन, निन्दित कार्यो में प्राणपण से अप्रवृत्ति—मरने तक की नौबत आ जाने पर भी निन्दित काम नहीं करना—इन सबका सदाचार में समावेश है।

[१३१]

तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम् ।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥

साधक को यथाशक्ति पापनाशक तप का आचरण करना चाहिए। वह चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पापसूदन इत्यादि अनेक रूप में है।

[१३२]

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च ह्रापयेत् ।
भुञ्जीत नामावस्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ॥

शुक्ल पक्ष में भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाना चाहिए। अमावस्या को भोजन नहीं करना चाहिए। यह चान्द्रायण व्रत की विधि है।

इसका अभिप्राय यह है—जिस प्रकार चन्द्रमा की कला शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती है, पूर्णिमा को वह परिपूर्णता पाती है, उसी के अनुरूप व्रती प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास, चतुर्थी को चार ग्रास, यों एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष में जैसे चन्द्रमा की कला क्रमशः घटती जाती है, उसी प्रकार प्रतिपदा को चवदह ग्रास, द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बारह ग्रास, चतुर्थी को ग्यारह ग्रास, यों उत्तरोत्तर एक-एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को सर्वथा निराहार रहे। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के आधार पर खाने के क्रम चलने के कारण इसे चान्द्रायण व्रत कहा गया है।

[१३३]

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमुक्तमनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त ! सन्तारणं परम् ॥

कृच्छ्र तप संतापन आदि भेद से अनेक प्रकार का है। कष्ट न मानते हुए, कष्टपूर्ण विधियों को सम्पन्न करने, उन द्वारा आत्म-शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने का यह उत्तम मार्ग है।

टीका में कृच्छ्र तप के संतापन-कृच्छ्र, पाद-कृच्छ्र तथा संपूर्ण-कृच्छ्र—ये तीन भेद बतलाये गये हैं और तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है।

[१३४]

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥

तपस्वीजन उस तप को मृत्युञ्जय तप कहते हैं, जहाँ एक मास तक का उपवास रखा जाता है, साथ ही साथ मृत्युञ्जय मंत्र का जप किया जाता है तथा जो परिशुद्ध विधि-विधानपूर्वक संपादित किया जाता है।

[१३५]

पापसूदनमप्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥

भिन्न-भिन्न पापों की अपेक्षा से अर्थात् भिन्न-भिन्न पापों के प्रायश्चित्त के दृष्टिकोण से तदनुरूप निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न मंत्रों के जप एवं विधिक्रम के साथ, सांसारिक विषयों से, अशुभ कर्मों से विरत रहते हुए जो तप साधा जाता है, वह पापसूदन नामक तप है।

[१३६]

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता ।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबंधनः ॥

समग्र कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्ष भोग—सांसारिक सुख तथा दुःख से रहित है। भवाभिनन्दी (संसार में अत्यन्त आसक्त) प्राणियों को अज्ञान—मिथ्यात्व भाव के कारण मोक्ष के प्रति द्वेष होता है।

[१३७]

श्रूयन्ते चैतदालापा लोके तावदशोभनाः ।
शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्याः सदा सताम् ॥

लोक में तथा लोकपरायण शास्त्रों में ऐसे आलाप—कथन सुने जाते है, जो सत्पुरुषों के लिए सुनने योग्य नहीं है—जिन्हें सत्पुरुष सुनना तक नहीं चाहते।

[१३८]

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम! ॥

गौतम! रमणीय वृन्दावन में गीदड़ की योनि में जन्म लेना भी हमें अभीष्ट है। जो इन्द्रियों का अविषय है—जो इन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं किया जा सकता, अथवा जो सुन्दर दर्शन, मधुर श्रवण, सुखद संस्पर्श, मनोज्ञ भाषण तथा सुरभित आघ्राण जैसे इन्द्रिय-सुखों से शून्य है, वह मोक्ष हमें नहीं चाहिए।

किसी वैष्णव विद्वान् का न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को या गौतम के अनुयायी किसी अन्य नैयायिक को गौतम के नाम से सम्बोधित कर यह कथन है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर एक बात है, वैष्णव मोक्ष के प्रति ऐसी अरुचि दिखाएं, यह संगत प्रतीत नहीं होता।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह श्लोक गालव ऋषि के मत का सूचक है, जो उन्होंने अपने शिष्यों में से किसी गौतम नामक शिष्य को सम्बोधित कर कहा हो।

[१३९]

महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥

घोर मोह से दुर्ग्रस्त, अकल्याणमय मनुष्यों में इस प्रकार मोक्ष के प्रति द्वेष होता है, जो उनके संसार बढ़ाने का—जन्म-मरण के चक्र में बार-बार आने का कारण बनता है।

[१४०]

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभाजिनः ॥

जिन भव्य पुरुषों का मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होता, वे धन्य हैं। संसार के बीजरूप मोह का परित्याग कर देने के कारण वे कल्याण के भागी बनते हैं।

[१४१]

सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः ।
मलनायैव तत्रापि न चेष्टैषां प्रवर्तते ॥

सद्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का उपाय कहा गया है। भव्य जनों की इन आत्मगुणों के नाश हेतु चेष्टा—प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे ऐसे कार्य नहीं करते, जिनसे सद्ज्ञान आदि दूषित हों।

[१४२]

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।
मलनायास्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥

जैसे स्वाराधना—आत्माराधना—ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना का सर्वोत्तम फल मोक्ष कहा गया है, उसी प्रकार उनके ध्वंस या विराधना का फल घोर अनर्थकर है।

[१४३]

उत्तुङ्गारोहणात् पातो विषान्नात् तृप्तिरेव च ।
अनर्थाय यथाऽत्यन्तं मलनाऽपि तथेक्ष्यताम् ॥

अत्यन्त ऊँचे स्थान पर चढ़कर वहाँ से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर सन्तुष्ट होना जैसे अत्यन्त अनर्थ के लिए होता है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र के नाश से आत्मा का घोर अहित होता है।

[१४४]

अत एव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।
श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥

शस्त्र, अग्नि तथा सर्प को यदि अयथावत् रूप में रखा जाए—उन्हें सहेजकर न रखा जाए तो वे कष्टप्रद सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार श्रामण्य—श्रमण-जीवन का ठीक रूप में निर्वाह न हो—चारित्र की विराधना हो तो महापुरुषों ने शास्त्र में उसे असुन्दर—अशोभन, क्लेशकर कहा है।

[१४५]

ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं नातः श्लाघ्या सुनीतितः ।
यथाऽन्यायार्जिता सम्पद् विपाकविरसत्वतः ॥

अन्तःकरण की शुद्धि के बिना पाला जाता श्रमण-धर्म नवग्रैवेयक देवलोक तक पहुँचा देता है किन्तु वह न्याय-दृष्टि से—वास्तव में प्रशंसनीय नहीं होता। वह तो अन्याय द्वारा अर्जित धन जैसा है, जो परिणाम-विरस होता है—जिसका फल दुःखप्रद होता है।

[१४६]

अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः ।
हितस्तु यत् तदेतेऽपि तथा कल्याणभागिनः ॥

इस कारण मोक्ष के प्रति द्वेष का अभाव आत्महित हेतु—मोक्ष-माग प्राप्त करने में सहायक होता है। उसमे आत्मा का कल्याण सधता है।

[१४७]

येषामेव न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥

जिनका मोक्ष-मार्ग में द्वेष नहीं होता, जो गरु, देव आदि की पूजा—सभक्ति आराधना करते है, वे ही लोग अपने जीवन में उत्तम कल्याण-कार्य कर पाते है। उनके अतिरिक्त दूसरे, जिनमें बड़े-बड़े दोष व्याप्त होते हैं, श्रेयस्कर मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[१४८]

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भीतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥

भारी दोषों का सेवन करने वाला यदि थोड़ा-सा अच्छा कार्य भी करे तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, वह नगण्य है। वह तो भीलों के राजा की उस आज्ञा जैसा है, जिसमें उसने अपने भौत—भौतिकता प्रधान अथवा शरीर पर भूति-राख मले रहने वाले गुरु को पैर से न छूने की तो हिदायत की थी किन्तु जान से मारने का संकेत किया था।

इस श्लोक के साथ एक दृष्टान्त जुड़ा हुआ है, जो इस प्रकार है:—

किसी वन में बहुत से भील रहते थे। उनका अपना नगर था। उन्होंने अपने में से एक प्रमुख भील को राजा के रूप में प्रतिष्ठापित कर रखा था। वे भील राह चलते लोगों को लूट लेते, मदिरा, मांस, व्यभिचार आदि दुष्कृत्यों में सदा दुर्ग्रस्त रहते थे। एक बार संयोगवश कुछ तापस वहाँ आये, जो फल, फूल, कन्द, मूल आदि खाकर अपना जीवन चलाते थे। भीलों ने उनका उपदेश सुना। वे उनसे प्रभावित हुए तथा भजन, पूजन आदि में उनके साथ भाग लेने लगे। तापसों का आचार्य देवी-देवताओं की पूजा करने, यज्ञ करने तथा गुरु, ब्राह्मणों को दान देने आदि का उपदेश करता था। भीलराज अपने साथियों के साथ उनका भक्त हो गया। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन्हें उत्तम भोजन कराता, आदर देता।

तापसों का आचार्य अपने मस्तक पर एक मुकुट धारण किये रहता था। मुकुट में मोर का पंख लगा था। भीलराज के मन में आया, वह भी वैसा मुकुट पहने किन्तु वन में एक भी मोर नहीं था क्योंकि इन आखेटप्रिय भीलों ने पहले ही उनका शिकार कर डाला था। भीलराज ने यह सोच तापसों के आचार्य से मुकुट देने का अनुरोध किया। आचार्य ने भीलराज की माँग स्वीकार नहीं की। तब भीलराज ने आचार्य की हत्या कर मुकुट प्राप्त करने का भीलों को आदेश दिया। भीलराज ने हत्या के लिए नियुक्त भीलों से कहा—ये तापसराज हमारे गुरु हैं, इसलिए तुम लोग इनके पैर मत लगाना क्योंकि गुरुजनों को पैर से छूने से बड़ा पाप होता है, यों उन्हें पैर से न छूते हुए उन्हें मारकर मुकुट ले आना। भीलों ने वैसा ही किया।

विचारणीय है, यहाँ भीलराज की आज्ञा के दो भाग हैं। एक भाग में गुरु को पैर से न छूने के रूप में आदर-भाव व्यक्त किया गया है तथा दूसरा भाग गुरु के वध से सम्बद्ध है, जो घोर हिंसामय है। अतः यहाँ भीलराज ने जो आदर दिखाने की बात कही है, वह मात्र विडम्बना है, सारहीन है। एक ओर प्राण लेना तथा दूसरी ओर पैर से न छूने की बात कहना सर्वथा अज्ञानमय है। वैसी ही स्थिति उस व्यक्ति के साथ है, जो बड़े-बड़े दोषों का सेवन करता है पर साथ ही थोड़ा-सा सत्कार्य भी कर लेता है। घोर दोषपूर्ण क्रिया के समक्ष ऐसे नगण्य से सत्कार्य की क्या महत्ता है!

[१४६]

गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः ।
मुक्त्यद्वेषाद् यथाऽत्यन्तं महापायनिवृत्तितः ॥

गुरुजनों की पूजा आदि में इतना गुण या लाभ नहीं बताया गया है, जितना घोर अनर्थकर सांसारिक जंजाल से निवृत्त करने वाले—छुड़ाने वाले मोक्ष के प्रति द्वेष न रखने में कहा गया है।

असदनुष्ठान—

[१५०]

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः ।
साध्वनुष्ठानमेवाहुर्नैतान् भेदान् विपश्चितः ॥

भवाभिष्वङ्ग—संसार में अत्यधिक आसक्ति होने से तथा अनाभोग योग से— कर्म-निर्जरा के भाव बिना, मन के उपयोग बिना कर्म होते रहने से विद्वज्जन इन तीन अनुष्ठानों को, जो आगे चर्चित है, सदनुष्ठान नहीं कहते।

[१५१]

इहामुत्र फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥

इस लोक तथा परलोक में फल की इच्छा लिए रहना—ऐहिक तथा पारलौकिक फल की कामना से कर्म करना भवाभिष्वङ्ग कहा जाता है। अनध्यवसाय—उचित अध्यवसाय का अभाव—क्रिया में मन का उपयोग न रहना अनाभोग कहा जाता है।

[१५२]

एतद्युक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद् ध्रुवम् ।
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजाल्पमलत्वतः ॥

अत्यधिक संसारासक्ति से युक्त अनुष्ठान अन्तिम पुद्‌गल-परावर्त से पहले के पुद्‌गल-परावर्तो में होते है। अन्तिम पुद्‌गल-परावर्त में सहजतया अल्प-मलत्व—कर्म-कालिमा की अल्पता होती है अतः वे वहाँ नहीं होते।

[१५३]

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ॥

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है। जैसे एक ही भोज्य पदार्थ एक रुग्ण व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक

स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे तो भोज्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है।

[१५४-१५५]

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा ।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥

गुरु, देव आदि की पूजा, व्रत, प्रत्याख्यान, सदाचार-पालन आदि अनुष्ठान अपेक्षा-भेद से विष, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु तथा अमृत—यों सामान्यतः पाँच प्रकार के होते हैं। योगियों ने ऐसा बतलाया है।

[१५६]

विषं लब्ध्याद्यपेक्षात इदं सच्चितमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वपादनात्तथा ॥

जिस अनुष्ठान के पीछे लब्धि—यौगिक विभूति—चामत्कारिक शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है, वह विष कहा गया है, क्योंकि वह चित्त की पवित्रता को मार डालता है—समाप्त कर देता है। महान् कार्य को अल्प प्रयोजनवश तुच्छ बना देता है तथा साधक में लघुत्व—छोटापन ला देता है।

[१५७]

दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।
एतद् विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥

जिस अनुष्ठान के साथ दैविक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है, उसे मनीषी जन गर (शनैः शनैः मारने वाला विष) कहते हैं। भौगिक वासना के कारण कालान्तर एवं भवान्तर में वह आत्मा के दुःख और अधः-पतन का कारण होता है।

[१५८]

अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते ।
संप्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ॥

जिसका मन संप्रमुग्ध, वस्तु-तत्त्व का निश्चय कर पाने में असमर्थ होता है, ऐसे व्यक्ति द्वारा अनाभोग—उपयोग बिना—गतानुगतिक रूप में जो क्रिया की जाती है, वह अननुष्ठान है। अर्थात् वह किया हुआ भी न किया जैसा है।

सदनुष्ठान —

[१५९]

एतद्रागादिकं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः ।
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगतः ॥

पूजा, सेवा, व्रत आदि के प्रति जहाँ साधक के मन में राग—अनुरक्तता बनी रहती है, उससे प्रेरित हो, वह सदनुष्ठान करता है, योगवेत्ता जानते हैं, बताते हैं, वह योग का उत्तम हेतु है, क्योंकि उसमें शुभ भाव का अंश विद्यमान है। वह तद्धेतु कहा जाता है।

[१६०]

जिनोदितमिति त्वाहूर्भावसारमदः पुनः ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः ॥

जिस अनुष्ठान के साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्म-भाव तथा भव-वैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है और साधक यह आस्था लिये रहता है कि यह अर्हत्-प्रतिपादित है, उसे मुनिजन अमृत कहते हैं।

[१६१]

एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ।
पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में गुरुपूजा, देवपूजा, आदि जो अनुष्ठान किये जाते हैं, वे तथा अन्तिम पुद्गलावर्त से पूर्ववर्ती आवर्तों में किये जाते हैं,

वे परस्पर भिन्न होते हैं। दोनों के अनुष्ठाताओं में मूलतः भेद होता है। एक अत्यन्त संसारासक्त होता है, दूसरा संसार में रहते हुए भी विशेषतः धर्मोन्मुख। अतएव उनके अनुष्ठान में भेद होना स्वाभाविक ही है।

[१६२]

यतो विशिष्टः कर्ताऽयं तदन्येभ्यो नियोगतः।
तद्योगयोग्यताभेदादिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित अनुष्ठाता योगाराधना में अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण औरों से—जो अन्तिम से पूर्ववर्ती परावर्तों में विद्यमान होते है, भिन्न होता है, इस पर भली-भाँति चिन्तन करें।

[१६३]

चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः।
सहजाल्पमलत्वं तु युक्तिरत्र पुरोदिता ॥

उस (चरम पुद्गलावर्तवर्ती) सत्पुरुष के सहज रूप में कर्म-मल की अल्पता होती है, ऐसा पहले उल्लेख किया गया है। वह ऊपर वर्णित भेदों में चौथे भेद—तद्धेतु में आता है।

बन्ध-विचार—

[१६४]

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम्।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः ॥

कर्मों को आकृष्ट करना संसारावस्थ आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादि है, इसलिए प्रवाह-रूप से आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। बांधना तथा बद्ध होना आत्मा एवं कर्म की योग्यताएँ हैं।

[१६५]

अनादिमानपि ह्येष बन्धत्वं नातिवर्तते।
योग्यतामन्तरेणापि भावेऽस्यातिप्रसंगता ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी है तो बन्ध या परस्पर-बद्धता ही, जिसका क्रम निरन्तर चलता रहता है। योग्यता के बिना ऐसा होने में अतिप्रसंग दोष आता है।

[१६६]

एवं चानादिमान् मुक्तो योग्यताविकलोऽपि हि ।
बध्येत कर्मणा न्यायात् तदन्यामुक्तवृन्दवत् ॥

यदि आत्मा में कर्म-बन्ध की योग्यता न मानी जाए तो वह जीव भी, जो अनादिकाल से मुक्त है—ईश्वर रूप में है, संसारस्थ बद्ध आत्माओं की तरह कर्मबद्ध होगा क्योंकि इस मत के अनुसार जब योग्यता के न होने पर भी संसारी आत्माओं के कर्म-बन्ध होता है तो फिर मुक्त आत्माओं के कर्म-बन्ध क्यों नहीं होगा।

[१६७]

तदन्यकर्मविरहान्न चेत् तद्बन्ध इष्यते ।
तुल्ये तद्योग्यताऽभावे न तु किं तेन चिन्त्यताम् ॥

यों कहा जाना चाहिए कि सदा से मुक्त जीव कर्म-बन्ध में नहीं आता, क्योंकि वह पहले कभी कर्म-बन्ध में नहीं आया, तब तक लागू नहीं होता, जब तक बद्ध आत्मा पर भी इसे लागू न किया जाए क्योंकि आत्मत्व की दृष्टि से मूल रूप में जो भी सिद्धान्त निमित होता है वह आत्मा मात्र पर घटित होना चाहिए।

[१६८]

तस्मादवश्यमेष्टव्या स्वाभाविक्येव योग्यता ।
तस्यानादिमती सा च मलनान्मल उच्यते ॥

अतः जीव में अनादिकाल से कर्म बाँधने की स्वाभाविक योग्यता है, ऐसा मानना चाहिए। वह जीव कर्म का मलन—नाश करने की क्षमता लिए हुए है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मल' भी है।

[१६९]

दिदृक्षाभवबीजादिशब्दवाच्या तथा तथा ।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ॥

मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने वालों—उस ओर गतिशील विभिन्न ज्ञानी जनों ने इस योग्यता को दिदृक्षा, भवबीज आदि शब्दों से अनेक रूप में आख्यात किया है।

टीकाकार के अनुसार सांख्यमतानुयायी इस योग्यता को 'दिदृक्षा' कहते हैं तथा शैव इसे 'भवबीज' के नाम से अभिहित करते हैं।

अध्यात्म-जागरण —

[१७०]

एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्तं सुनीतितः ।
स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा ॥

प्रत्येक पुद्गलावर्त में जीव की कर्म-बन्ध की योग्यता उत्तरोत्तर कम होती जाती है। यों योग्यता के अल्प या मन्द हो जाने पर निश्चित रूप में भावों की शुद्धि उत्पन्न होती है।

[१७१]

ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम् ।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥

उसके फलस्वरूप प्राणियों के जीवन में शुभ अनुष्ठान क्रियान्वित होने लगता है। उनका दुराग्रह हट जाता है। इसका कर्मबन्ध पर भी प्रभाव होता है। अर्थात् वह हलका होने लगता है।

[१७२]

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत् संक्लेशहेतवः ।
तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रशुभभावतः ॥

अन्तर्मन की संशुद्धि तथा तीव्र शुभ भाव के कारण तब कर्म पुद्गल मनुष्य के लिए पहले की तरह क्लेशकारक नहीं बनते।

[१७३]

सत्साधकस्य चरमा समयाऽपि विभीषिका ।
न खेदाय यथाऽत्यन्तं तद्वदेतद् विभाव्यताम् ॥

उत्तम मन्त्र-साधक को अपने मन्त्र-विशेष के अनुष्ठान की साधना के अन्त में (भूत, वैताल आदि के) भीषण दृश्य दिखाई देते है पर वह उनसे विशेष खिन्न नहीं होता । वैसी ही स्थिति अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान जीव की होती है। जो भी विघ्न, उपसर्ग आदि उसके जीवन में आते हैं, वह उनसे घबराता नहीं । यह तो उसकी साधना की एक कसौटी है।

[१७४]

सिद्धेरासन्नभावेन यः प्रमोदो विजृम्भते ।
चेतस्यस्य कुतस्तेन खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ॥

जब सिद्धि प्रकट होने का समय समीप होता है, तब साधक के चित्त में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हो जाता है। उसके मन में फिर खेद कहाँ से हो।

[१७५]

न चायं महतोऽर्थस्य सिद्धिरात्यन्तिकी न च ।
मुक्तिः पुनर्द्वयोपेता सत्प्रमोदास्पदं ततः ॥

मन्त्र-विद्या आदि की साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धि कोई बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं करती । न वह स्थायी रूप में साधक के पास टिकती ही है। मोक्ष के रूप में जो आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है, उसमें ये दोनों विशेषताएँ रहती हैं। जीवन का चरम साध्य उससे सधता है। वह शाश्वत होती है—सदा स्थिर रहती है, साथ ही साथ विशुद्ध—पर-पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द से आपूर्ण होती है।

[१७६]

आसन्ना चेयमस्योच्चैश्चरमावर्तिनो यतः ।
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किंचन ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान पुरुष के मुक्ति आसन्न—समीपवर्तिनी होती है। संसार में वह अनेक पुद्गल-परावर्तों में से गुजरा है, अनेक भवों में बहुविध कष्ट झेले हैं, तब इस अन्तिम एक पुद्गल-परावर्त को व्यतीत करना कोई भारी बात नहीं है।

[१७७]

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः ।
भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षाविवर्जिताः ॥

अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि तथा चारित्री भावसार—उत्तम भाव युक्त एवं अपेक्षावर्जित—फलासक्तिरहित होते हैं, ऐसा योगवेत्ताओं ने बतलाया है।

अपुनर्बन्धक : स्वरूप—

[१७८]

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।
वर्धमानगुणप्रायो अपुनर्बन्धको मतः ॥

जो भवाभिनन्दी जीव में पाये जाने वाले दोषों के प्रतिकूल गुणों से युक्त होता है, अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है, वह अपुनर्बन्धक होता है।

[१७९]

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता ।
कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारतः ॥

पूर्वसेवा, जो पहले वर्णित की गई है, अपुनर्बन्धक जीवों में मुख्य रूप से घटित होती है। वे उसका विशेष रूप से परिपालन करते हैं। क्योंकि उनके आत्म-परिणामों में पवित्रता का भाव होता है। इसके अतिरिक्त दूसरों की—पुनर्बन्धक जीवों की पूर्वसेवा, जिसका इतर परंपराओं में प्रतिपादन हुआ है, मात्र औपचारिक है।

[१८०]

कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥

शेष—अपुनर्बन्धक जीवों के अतिरिक्त—पुनर्बन्धक जीवों की दृष्टि से भी पूर्वसेवा का उल्लेख किया गया है। क्योंकि वह औपचारिक पूर्वसेवा उन्हें वास्तविक पूर्वसेवा तक पहुँचाने में कारण बनती है। जो पुरुष अपुनर्बन्धकावस्था के सन्निकटवर्ती है, वह प्रायः इसके—पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता। वैसा शालीन आचार उसका होता ही है।

[१८१]

शुद्ध्यल्लोके यथा रत्नं जात्यं काञ्चनमेव वा ।
गुणैः संयुज्यते चित्रैस्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥

लोक में जैसे शुद्ध किया जाता—सम्मार्जित—संशोधित या परिष्कृत किया जाता उच्च जाति का रत्न या स्वर्ण विभिन्न गुणों से समायुक्त हो जाता है, शोधन तथा परिष्कार से उसमें अनेक विशेषताएँ आ जाती हैं, उसी प्रकार जीव भी अन्तःशोधन के क्रम में सदनुष्ठान द्वारा अनेक उच्च गुणसंयुक्त हो जाता है। इस पर चिन्तन-पर्यालोचन करें।

[१८२]

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन तथाभोगसङ्गताम् ॥

कइयों का यह कथन है—अपुनर्बन्धक के अतिरिक्त अन्यों का पूर्वसेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है, जो आलोचन—विमर्श या स्वावलोकन रहित तथा उपयोगशून्य है।

[१८३]

युज्यते चैतदप्येवं तीव्रे मलविषे न यत् ।
तदावेगो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥

एक अपेक्षा से यह ठीक ही है, जब तक कर्म-मलरूपी तीव्र विष

आत्मा में व्याप्त रहता है, तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सांसारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेग—प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नहीं।

[१८४]

संक्लेशायोगतो भूयः कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या तूपचारतः ॥

जब मनुष्य की प्रकृति में संक्लेशाऽययोग—आत्मोन्मुख क्रिया में विघ्नों का अयोग हो जाता है—विघ्न दूर हो जाते है, कल्याण—श्रेयस् प्रमुखरूप में व्याप्त हो जाता है, तब वह (प्रकृति) तात्त्विक—यथार्थ अथवा योगान्तभूत होती है, यह जानना चाहिए। उससे भिन्न प्रकृति औपचारिक कही जाती है।

[१८५]

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहारः प्रवर्तते ।
ततश्चाधिकृतं वस्तु नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥

प्रकृति का आधार लेकर शास्त्र-व्यवहार प्रवृत्त होता है—उसके आधार पर शास्त्रों में एतत्सम्बन्धी विवेचन-विश्लेषण चलता है। अतः शास्त्र द्वारा अधिकृत—स्वीकृत, प्रतिपादित तथ्य निश्चय ही निरर्थक नहीं है। उसकी अपनी सार्थकता है।

[१८६]

शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥

अपुनर्बन्धक-स्थिति में शान्त, उदात्त—भावोन्नत, सूक्ष्म ऊहापोह सहित तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अनुभूतियुक्त शुद्ध अनुष्ठान क्रियान्वित होता है।

[१८७]

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः ।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥

जैसे एक धनी, सुन्दर, युवा पुरुष सांसारिक भोग भोगने में भाग्य-

शाली होता है, उसी प्रकार जो प्रकृति से शान्त एवं उदात्त होता है, वह शुभ भाव स्वायत्त करने का सौभाग्य लिये रहता है। वह सानन्द पुण्यात्मक शुभ अनुष्ठान में सलग्न रहता है।

[१८८]

अनीदृशस्य च यथा न भोगसुखमुत्तमम् ।
अशान्तादेस्तथा शुद्धं नानुष्ठानं कदाचन ॥

जो पुरुष धनाढ्य, सुन्दर एवं युवा नहीं है, वह उत्तम भोगों का आनन्द नहीं ले सकता। उसी तरह जो व्यक्ति अशान्त तथा निम्न है, वह शुद्ध क्रियानुष्ठान—धर्मानुसंगत श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता।

[१८९]

मिथ्याविकल्परूपं तु द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्वतः ॥

दोनों का—भोगोन्मुख तथा साधनोन्मुख पुरुष का, जो अपेक्षित योग्यताओं से रहित है, यह सोचना कि वे अपना अभीप्सित प्राप्त कर लेंगे, अपनी बौद्धिक कल्पना के शिल्पी द्वारा बनाया गया मिथ्याविकल्पात्मक प्रासाद है, जो तत्त्वतः कुछ नहीं है, मात्र विडम्बना है।

[१९०]

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं दरिद्रायौवनस्थयोः ।
सुरूपरागाशङ्कं च कुरूपस्य स्वयोषिति ॥

जिसके भोगोपयोगी अंग शक्तिशून्य हैं, जो निर्धन, यौवनरहित तथा कुरूप है, वह अपनी सुन्दर स्त्री में रागासक्त होता हुआ भी उसके सम्बन्ध में मन में आशंका लिये रहता है। सांसारिक सुख से वह सर्वथा वञ्चित होता है।

यही स्थिति उस पुरुष के साथ है, जो साधना के सन्दर्भ में सब प्रकार से अयोग्य है। वह साधना का आनन्द कहाँ से पाए?

[१९१]

अभिमानसुखाभावे तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।
अपायशक्तियोगाच्च न ह्येत्थं भोगिनः सुखम् ॥

धन, यौवन तथा सौन्दर्य हीन पुरुष भोग-सुख न पा सकने के कारण भीतर ही भीतर अत्यन्त क्लेश पाता है। सुख तो उसे नाम मात्र का भी नहीं।

] १९२]

अतोऽन्यस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम् ।
यथा तथैव शान्तादेः शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥

भोगसम्पन्न पुरुष के भोगमय सुख की अपेक्षा शान्त, उदात्त प्रकृति युक्त भव्य पुरुष का शुद्ध—अध्यात्मोन्मुख अनुष्ठान अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसी में वास्तविक सुख है।

[१९३]

क्रोधाद्यबाधितः शान्त उदात्तस्तु महाशयः ।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गतः ॥

आत्मसंयत पुरुष क्रोध आदि में बाधित नहीं होता—क्रोध के वशीभूत नहीं होता। वह शान्त, उदात्त एवं पवित्र आशय—अन्तर्भाव लिये रहता है। वह पुण्यात्मक शुभ कार्यों में लगा रहता है। अतः उसे विशिष्ट—सौम्यता, सौजन्य, औदार्य आदि विशिष्ट गुणयुक्त बुद्धि प्राप्त रहती है।

[१९४]

ऊहतेऽयमतः प्रायो भवबीजादिगोचरम् ।
कान्तादिगतगेयादि तथा भोगीव सुन्दरम् ॥

भोगासक्त पुरुष रूपवती स्त्री द्वारा गाये जाते सुन्दर गीत आदि पर अत्यन्त रीझा रहता है—उसमें पगा रहता है, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक जीव भव-बीज—संसार में आवागमन—जन्म-मरण के चक्र के मूल 'कारण क्या है, उनसे छुटकारा कैसे हो, इत्यादि विषयों पर तल्लीनतापूर्वक चिन्तन-विमर्श में खोया रहता है।

[१९५]

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।
हेत्वभेदादिदं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥

प्रकृति के भेद या भिन्नता से आत्मा में मूलतः भिन्नता—असमानता नही आती। वास्तव में आत्मस्वरूप सर्वथा अभिन्न है, जो न्याय-युक्ति द्वारा भली भाँति सिद्ध है।

[१९६]

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा ।
भवे भवेदतः सर्वप्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥

आत्मा, प्रकृति आदि सबका अपने-अपने स्वभावानुरूप परिणमन होता रहता है। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा को संसारावस्था में अनेक प्रकार की स्थितियाँ—जन्म, मरण, शरीर, रूप, सुख, दुःख, उन्नति, अवनति आदि प्राप्त होती हैं। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं आता।

[१९७]

सांसिद्धिकमलाद् यद् वा न हेतोरस्ति सिद्धता ।
तद् भिन्नं यदभेदेऽपि तत्कालादिविभेदतः ॥

आत्मा के साथ अनादिकाल से चले आते कर्म-संस्कार के कारण वह (आत्मा) मूलत: अभिन्न—सर्वथा सदृश होते हुए भी भिन्नता—विविध-रूपात्मकता में परिदृश्यमान है।

[१९८]

विरोधिन्यपि चैवं स्यात् तथा लोकेऽपि दृश्यते ।
स्वरूपेतरहेतुभ्यां भेदादेः फलचित्रता ॥

जैनेतर मत में भी ऐसा स्वीकृत है तथा लोक में भी ऐसा दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुओं में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह उनके अपने-अपने स्वरूप तथा उससे सम्बद्ध अन्य कारणों पर आधृत है।

[१९९]

एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः ।
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥

एतद्विषयक ऊहापोह—चिन्तन-विमर्श में अभिरत, योगमार्गानुगामी साधक प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के वियोग—आत्मा की कर्म-बन्धन से मुक्ति के पथ पर गतिशील रहता है।

[२००-२०२]

एवं लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः ।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥

"योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
सनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥
वेलावलनवन्नद्यास्तदापूरोपसंहृतेः ।
प्रतिस्रोतोऽनुगतत्वेन प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः ॥

एतद्रूप लक्षणयुक्त पुरुष के प्रारंभ में—'पूर्वसेवा' से लेकर उत्तरवर्ती सभी क्रियानुष्ठान योग के अन्तर्गत हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य गोपेन्द्र का प्रतिपादन है—

यह आत्मा का मोक्ष मे योजना करता है, उसे मोक्ष से जोड़ता है इसलिए मुनिवरों ने इसे योग कहा है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना है।

ज्यों ज्यों प्रकृति निवृत्ताधिकार होती जाती है—पुरुष पर से उसका अधिकार अपगत होता जाता है, योग जीवन में क्रियान्वित होता है।

जब तूफानी बाढ़ निकल जाती है तो नदी का बढ़ाव रुक जाता है। जो नदी बाढ़ के कारण आगे से बढ़ती जारही थी, अनुस्रोतगामिनी हो रही थी, वह वापस सिमटने लगती है—उलटी अपनी ओर सिकुड़ती जाती है, प्रतिस्रोतगामिनी हो जाती है। उसी प्रकार जीव जब प्रतिस्रोतगामी—लोकप्रतिकूल अध्यात्मोन्मुख हो जाता है, अपने में समाने लगता है तो उसकी अनुस्रोतगामिता—लोकप्रवाह या सांसारिक विषय-वासना की धारा के साथ बहते जाने का क्रम रुक जाता है।

भिन्नग्रन्थि—

[२०३]

भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।
तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः ॥

जिसकी अज्ञान-जनित मोहरागात्मक ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, खुल जाती है, ऐसे सत्पुरुष का चित्त मोक्ष में रहता है और देह संसार में। उसके जीवन की समग्र क्रिया-प्रक्रिया योग में समाविष्ट है।

[२०४]

नार्या यथान्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते ।
तद्योग: पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥

जो स्त्री पर-पुरुष में आसक्त होती है, सदा उसी के चिन्तन में अनुरक्त रहती है, वह प्रसंगवश कभी पति की सेवा करती हो या अपने परपुरुष की सेवा करती हो, उसके सभी कार्यों में पाप-बन्ध होता है क्योंकि उसका जीवन पापमय है।

इस उदाहरण से भिन्नग्रन्थि की स्थिति समझनी चाहिए। भिन्न-ग्रन्थि का जीवन-रस अध्यात्मय होता है अतः वह जो भी क्रिया करता है, बाहरी रूप पर न जाएँ, मूलत: वह अध्यात्म-विमुख नहीं होती। अत एव भिन्नग्रन्थि की सभी क्रियाएँ योग-व्याप्त कही गई हैं। इसे हृदयंगम करना चाहिए।

[२०५]

न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्तं न जायते ॥

ग्रन्थि-भेद हो जाने पर साधक की दृष्टि उत्तम भावमय—मोक्षानुगामी मोड़ ले लेती है। अपने दैनन्दिन कार्यों में लगे रहने पर भी उसका चित्त मोक्ष पर टिका रहता है। वह कर्तव्यवश लौकिक कार्य करती है पर उनमें वह रस नहीं लेता।

[२०६]

चारु चैतद् यतो ह्यस्य तयोहः संप्रवर्तते ।
एतद्वियोगविषय: शुद्धानुष्ठानभाक् स यत् ॥

भिन्नग्रन्थि पुरुष अपनी दृष्टि मोक्ष पर स्थिर किये रहता है, यह बहुत सुन्दर है। एक ओर उसका संसार के बन्धन से आत्मा के छूटने के सम्बन्ध में चिन्तन चलता है तथा दूसरी ओर शुद्ध धर्मानुष्ठान में वह तत्पर रहता है।

[२०७]

प्रकृतेरायतश्चैव नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।
तथा विहाय घटत ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥

जब तक प्रकृति वर्तनशील रहती है, तब तक अप्रवृत्ति—निवृत्ति—-संयममूलक धर्म जीवन में घटित नहीं होता। जैसे जैसे प्रकृति का पुरुष मे—आत्मा से वियोग घटित होता जाता है, वैसे-वैसे मन निर्मल होता जाता है, तदनुरूप चिन्तन-विमर्श गति पकड़ता है।

[२०८]

सति चास्मिन् स्फुरद्रत्नकल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः ।
भावस्तैमित्यतः शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥

भावात्मक स्थिरता के कारण तब देदीप्यमान रत्न की तरह अन्तरात्मा में सत्त्वसम्पृक्त ज्योतिर्मय चिन्तन उद्भासित होता है, मन प्रशान्त हो जाता है। साधक के जीवन में सदा शुद्ध अनुष्ठान विलसित होता है।

[२०९]

एतच्च योगहेतुत्वाद् योग इत्युचितं वचः ।
मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ॥

योग का हेतु होने से तदनुरूप अनुष्ठान को भी योग कहना उचित ही है। भिन्नग्रन्थि द्वारा आचरित मुख्य—तात्त्विक पूर्वसेवा के अवसर पर यह प्रकट होता है।

त्रिधा शुद्ध अनुष्ठान—

[२१०]

त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं सच्छास्त्रपरतन्त्रता ।
सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च तथाऽत्रैव प्रचक्षते ॥

त्रिविध शुद्ध अनुष्ठान, सत् शास्त्रों की आज्ञा के अनुरूप वर्तन, शास्त्रों में सम्यक् श्रद्धा, दृढ़ विश्वास—ये योग में सहकारी हैं।

[२११]

विषयात्मानुबन्धैस्तु त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।
अनुष्ठानं प्रधानत्वं ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥

शुद्ध विषय—शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध उपक्रम तथा अनुवन्ध—निरवरोध रूप में आगे चलती शृंखला—यों तीन प्रकार से अनुष्ठान शुद्ध हो, यह अपेक्षित है। तीनों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—एक दूसरे से आगे से आगे उत्तम कहे गये हैं।

[२१२]

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनाद्यपि ।
तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥

मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिये पहाड़ की चोटी से गिरना आदि प्रथम भेद में आते है। क्योंकि गिरने वाले ने यत्किञ्चित् रूप में मोक्ष की उपादेयता स्वीकार की है, मोक्ष के अस्तित्व तथा वाञ्छनीयता में विश्वास प्रकट किया है।

[२१३]

द्वितीयं तु यमाद्येव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥

दूसरे अनुष्ठान में लौकिक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के व्यवस्थित पालन का समावेश होता है। पर, सम्यक्ज्ञान आदि के न होने से वह यथावत् रूप में शास्त्र-सम्मत नहीं होता।

[२१४]

तृतीयमप्यदः किन्तु तत्त्वसंवेदनानुगम् ।
प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥

तीसरे अनुष्ठान में दूसरे में उक्त यम आदि का परिपालन तत्त्व-संवेदन—तत्त्व-ज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् वहाँ स्थित साधक की यह विशेषता होती है कि उसे तत्त्व-बोध प्राप्त रहता है। उसकी वृत्ति में प्रशान्त भाव रहता है। किन्तु उसके साधनाभ्यास में दृढ़—तीव्र स्थिर उत्सुकता नहीं होती।

[२१५]

आद्यान्न दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः ।
तद्योगजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥

पहले अनुष्ठान में अज्ञानरूप अन्धकार की अधिकता के कारण दोष-विगम—मोक्ष में बाधक दोषों का अपाकरण या नाश नहीं होता।

कई आचार्यों का अभिमत है कि वैसा करने वाले को अगले जन्म में ऐसी स्थितियाँ प्राप्त होती है, जिससे वह मोक्ष से दूर ले जाने वाले कारणों को मिटा पाने में सक्षम होता है। फलतः योगाभ्यास मे संप्रवृत्त होता है।

ग्रन्थकार का यहाँ यह अभिप्राय है कि पर्वत के शिखर से गिरने आदि के रूप में जो आत्मघात किया जाता है, उससे वास्तव में मोक्ष-सिद्धि नहीं होती। उससे वे स्थितियाँ अपगत नही होती, जिनके कारण मोक्ष-प्राप्ति बाधित होती है। क्योंकि वह उपक्रम अत्यधिक अज्ञान-प्रसूत होता है। मात्र इसलिए उसे शुभ अनुष्ठान में लिया गया है कि ऐसा करने वाले के मन में मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रहती है।

[२१६]

मुक्ताविच्छापि यच्छ्लाघ्या तमःक्षयकरी मता ।
तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यदः ॥

मोक्ष की इच्छा होना भी प्रशंसनीय है। ऐसा माना गया है, उससे अज्ञानरूप अन्धकार का नाश होता है। इतना तो है, किन्तु मोक्ष तो सर्वथा कल्याणमय—सम्पूर्णत शुद्धावस्थापन्न है, अतः प्रथम कोटि (गिरि-पतन-आदि) में आने वाले अनुष्ठान उसके साक्षात् हेतु नहीं होते।

[२१७]

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।
गुरुलाघवचिन्तादि न यत् तत्र नियोगतः ॥

दूसरी कोटि के अनुष्ठान में मोटे रूप में दोषों का अपगम तो होता है पर एकान्ततः दोषापगम का क्रम नहीं चलता—पूरी तरह दोष नहीं मिटते। क्या गुरु—बड़ा या ऊँचा है, क्या लघु—छोटा या हलका है, वह अपने क्रिया-कलाप में ऐसा कुछ भेद नहीं कर पाता।

[२१८]

अत एवेदमार्याणां बाह्यमन्तर्मलीमसम् ।
कुराजपुरसच्छालयत्नकल्पं व्यवस्थितम् ॥

आर्य—उत्तम पुरुष इस कोटि के अनुष्ठान को बाह्य समझते है, उसे अन्तर्मल युक्त मानते है। देखने में वह चाहे सुन्दर प्रतीत हो पर है मात्र बाहरी। क्योंकि वैसा करने वालों के हृदय में अन्तःकालुष्य विद्यमान रहता है। वह किसी दुष्ट राजा द्वारा शासित नगर के चारों ओर परकोटा बनाने के प्रयत्न जैसा है। जब दुष्ट राजा का शासन है तो नगर में बसने वाले लोग उसकी दुष्टता से उत्पीड़ित हैं ही, फिर परकोटे से कैसी रक्षा, कैसा बचाव ?

[२१९]

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः।
गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः ॥

तीसरी कोटि के अनुष्ठान से निश्चित रूप में दोषों का अपगम होता है। दोषापगम का सातत्य—शृंखला बनी रहती है। कतिपय विद्वानों ने इसे गृह की आद्य भूमिका—मकान की नींव के सदृश कहा है।

[२२०]

एतदप्युदग्रफलदं गुरुलाघवचिन्तया :
अतः प्रवृत्तिः सर्वत्र सदैव हि महोदया ॥

गुरु, लघु—उच्च, अनुच्च के सन्दर्भ में सम्यक् चिन्तन युक्त होने के कारण यह (तीसरा) अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है। उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समग्र क्रिया-प्रक्रिया साधक के लिए सदा महोदय—अत्यन्त अभ्युदय—समुन्नतिकारक होती है।

[२२१]

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

आसन्न-भव्य—निकट काल में मोक्षगामी, बुद्धिशील, श्रद्धारूप धन से युक्त पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी का आधार नहीं लेता।

[२२२]

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम – धन और सांसारिक भोग में मनुष्य विना उपदेश के भी निपुण होता है। किन्तु धर्म-ज्ञान शास्त्र विना नहीं होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[२२३]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिए बडा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भाँति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में, आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[२२४]

तस्मात सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अन्धकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन से मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[२२५]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र-गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

अर्थ—उत्तम पुरुष इस कोटि के अनुष्ठान को बाह्य समझते हैं, उसे अन्तर्मल युक्त मानते है। देखने में वह चाहे सुन्दर प्रतीत हो पर है मात्र बाहरी। क्योंकि वैसा करने वालों के हृदय में अन्तःकालुष्य विद्यमान रहता है। वह किसी दुष्ट राजा द्वारा शासित नगर के चारों ओर परकोटा बनाने के प्रयत्न जैसा है। जब दुष्ट राजा का शासन है तो नगर में बसने वाले लोग उसकी दुष्टता से उत्पीड़ित हैं ही, फिर परकोटे से कैसी रक्षा, कैसा बचाव ?

[२१९]

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः।
गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः ॥

तीसरी कोटि के अनुष्ठान से निश्चित रूप में दोषों का अपगम होता है। दोषापगम का सातत्य—शृंखला बनी रहती है। कतिपय विद्वानों ने इसे गृह की आद्य भूमिका—मकान की नींव के सदृश कहा है।

[२२०]

एतदभ्युदयफलदं गुरुलाघवचिन्तया :
अतः प्रवृत्तिः सर्वैव सदैव हि महोदया ॥

गुरु, लघु—उच्च, अनुच्च के सन्दर्भ में सम्यक् चिन्तन युक्त होने के कारण यह (तीसरा) अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है। उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समग्र क्रिया-प्रक्रिया साधक के लिए सदा महोदय—अत्यन्त अभ्युदय—समुन्नतिकारक होती है।

[२२१]

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

आसन्न-भव्य—निकट काल में मोक्षगामी, बुद्धिशील, श्रद्धारूप धन से युक्त पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी का आधार नहीं लेता।

[२२२]

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम — धन और सांसारिक भोग में मनुष्य विना उपदेश के भी निपुण होता है। किन्तु धर्म-ज्ञान शास्त्र विना नही होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[२२३]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि मे उसके लिए बड़ा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भाँति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में, आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[२२४]

तस्मात सदैव धर्मार्थी शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अन्धकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन से मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[२२५]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र-गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् वह ज्ञानमय चक्षु है। शास्त्र सभी प्रयोजनों का साधक है।

[२२६]

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥

जिसकी शास्त्र में भक्ति—श्रद्धा नहीं है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया भी कर्म-दोष के कारण उत्तम फल नहीं देती। वह अन्धे मनुष्य की प्रेक्षाक्रिया—देखने के उपक्रम जैसी है। अन्धा देखने का प्रयत्न करने पर भी कुछ देख नहीं पाता। यही स्थिति उस क्रिया की है। अन्धे के पास नेत्र नही है और शास्त्रभक्तिशून्य पुरुष के पास शास्त्र से प्राप्य ज्ञानचक्षु नहीं है। यों दोनों एक अपेक्षा से समान ही है।

[२२७]

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः ।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥

जो श्रद्धावान्, गुणानुरागी, सौभाग्यशाली पुरुष सम्माननीय सत्पुरुषों का अहंकाररहित होकर सम्मान करता है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।

[२२८]

यस्य त्वनादरः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥

जिसका शास्त्र के प्रति अनादर है, उसके श्रद्धा, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान आदि गुण एक पागल अथवा भूत-प्रेत आदि द्वारा ग्रस्त उन्मादी पुरुष के गुणों जैसे है। वे सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय नहीं हैं।

यद्यपि श्रद्धा आदि गुण अपने आप में बहुत अच्छे हैं पर जिस व्यक्ति रूप पात्र में वे टिके हों, वह यदि विकृत हो तो इन उत्तम गुणों का भी यथेष्ट लाभ मिल नहीं पाता। उन्मत्त पुरुष के साथ यही बात है और यही बात उस पुरुष के साथ है, जो नासमझी के कारण शास्त्र का अनादर करता है। यह भी तो एक प्रकार उन्माद ही है।

[२२९]

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधा ॥

जैसे मैला वस्त्र जल द्वारा धोये जाने पर अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण की स्वच्छता—शुद्धि शास्त्र द्वारा होती है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं।

[२३०]

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्धैर्मुक्तेर्दूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥

शास्त्र-भक्ति मानो मुक्ति की दूती है अर्थात् आत्मारूपी प्रेमी—आशिक तथा मुक्तिरूपी प्रेमिका—माशूका का मिलन कराने में—आत्मा को मुक्ति-संयुक्त कराने में वह सन्देशवाहिनी का कार्य करती है। मुक्ति का सन्देश आत्मा तक पहुँचाती है, जिससे आत्मा में मुक्ति को प्राप्त करने की उत्कण्ठा बढ़ती है।

[२३१]

तथात्मगुरुलिङ्गानि प्रत्ययस्त्रिविधो मतः ।
सर्वत्र सदनुष्ठाने योगमार्गे विशेषतः ॥

आत्मा द्वारा—अन्तरावलोकन या आत्मानुभूति द्वारा, गुरु—द्रष्टा के उपदेश द्वारा, बाह्य चिन्ह, लक्षण या शकुन आदि द्वारा—यों तीन प्रकार से सदनुष्ठान में, विशेषरूप से योगमार्ग में प्रत्यय—प्रतीति या श्रद्धा होती है।

[२३२]

आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव तु ।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्णं सिद्धिसाधनम् ॥

आत्मा में सदनुष्ठान का अनुसरण करने की अभिलाषा हो, गुरु वैसा ही उपदेश करते हों तथा बाहरी चिन्ह, शकुन आदि अनुकूल हों तो इनसे अनुष्ठान की परिपूर्ण सफलता का संकेत मिलता है।

[२३३]

सिद्ध्यन्तरस्य सद् बीजं या सा सिद्धिरिहोच्यते ।
ऐकान्तिक्यन्यथा नैव पातशक्त्यनुवेधतः ॥

जो उत्तमोत्तम गुणयुक्त सिद्धि की प्राप्ति में बीज या हेतुरूप होती है, वह शक्ति सिद्धि कही जाती है। वैसी सिद्धि एकान्ततः जीवन में सिद्धि—सफलता प्रदान करती है। पर, जिन बाह्य चामत्कारिक सिद्धियों से आत्मा का पतन होता है, वे वास्तव में सिद्धियाँ नहीं कही जा सकतीं।

[२३४]

सिद्ध्यन्तरं न सन्धत्ते या साऽवश्यं पतत्यधः ।
तच्छक्त्याऽनुविद्धैव पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥

जो सिद्धि दूसरी—आत्मोत्थान प्राप्त करवाने रूप सिद्धि का कारण नहीं होती, उसका अवश्य ही अधःपतन होता है। यों जो पतन-कारणमयी शक्तिमत्ता से समायुक्त है, उसको पतनरूप माना गया है।

[२३५]

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात् साध्वी चैकान्तिकी भृशम् ।
आत्मादिप्रत्ययोपेता तदेषा नियमेन तु ॥

जिनमें दूसरी सिद्धियों के कारणों का संयोग हो, वे सिद्धियाँ एकान्त रूप से श्रेष्ठ होती हैं। उनमें नियमतः आत्मा आदि तत्त्वों की प्रतीति रहती है। वे सिद्धियाँ अत्यन्त शुद्ध होती हैं।

[२३६]

न ह्युपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि ।
हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥

जो जो सिद्धियाँ जिन जिन उपायों से प्राप्त किये जाने योग्य हैं, उनसे अन्य उपायों द्वारा अनेक प्रकार से हठपूर्वक प्रयत्न करने पर भी वे प्राप्त नहीं होतीं। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्म-प्रतीति का अवलम्बन कर अभ्यासरत हो।

[२३७]

पठितः सिद्धिदूतोऽयं प्रत्ययो ह्यत एव हि ।
सिद्धिहस्तावलम्बश्च तथाऽन्यैर्मुख्ययोगिभिः ॥

आत्म प्रत्यय को सिद्धिदूत कहा गया है। सिद्धि की ओर आगे बढ़ते साधक को हाथ का सहारा देकर वह आगे बढ़ने में सहयोग करता है। अन्य प्रमुख योगियों ने ऐसा कहा है।

जैसे सीढ़ियों द्वारा महल में चढ़ते पुरुष को यदि किसी के हाथ का सहारा मिल जाता है तो उसे चढ़ने में सुविधा होती है, उसी प्रकार आत्म-प्रतीति के सहारे साधक सुविधापूर्वक ऊर्ध्व-गमन करने में समर्थ होता है।

[२३८]

अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं सद्योगारम्भकस्तु यः ।
नान्यः प्रवर्तमानोऽपि तत्र दैवनियोगतः ॥

सद्योगारम्भक—श्रेष्ठ योग प्रारंभ करने वाला साधक निश्चित रूप से आत्मप्रत्यय की अपेक्षा रखता है। उधर प्रवृत्त होता हुआ भी अन्य व्यक्ति विपरीत संस्कारवश आत्मप्रतीति के अभाव में सद् योग—उत्तम योग-साधना का शुभारंभ नहीं कर पाता।

[२३९]

आगमात् सर्व एवायं व्यवहारः स्थितो यतः ।
अपि हाटिको यस्तु हन्ताज्ञानां स शेखरः ॥

योगमार्ग का समग्र व्यवहार, आचार-विधि आगम के अनुरूप स्थित है—आगम-सिद्ध है। फिर भी दुराग्रही व्यक्ति उससे विपरीत मार्ग पर चलता है। आश्चर्य है, वह कैसा मूर्ख-शिरोमणि है।

[२४०]

तत्कारी स्यात् स नियमात् तद्द्वेषी चेति यो जडः ।
आगमार्थं समुल्लंघ्य तत एव प्रवर्तते ॥

जो मूर्ख मोक्ष के लिए क्रिया करता है पर मोक्ष-निरूपक आगम से द्वेष करता है तो वह एक प्रकार से मोक्ष का ही द्वेषी है। आगम के अर्थ

का—आगम-निरूपित तत्त्व-दर्शन का उल्लंघन कर वह योग-मार्ग में प्रवत्त होता है, यह उसकी अज्ञता ही तो है।

[२४१]

न सद्योगभव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि।
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया-विधि में प्रवत्ति नहीं होती। जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति-धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूप, स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है।

[२४२]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जनश्लाघो महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य-विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है, जो सब द्वारा प्रशंसित होता है।

[२४३-२४४]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग-धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील, श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम ओज से विभाजित, लोक-कल्याणकारी, समुचित कार्यों में संलग्न, उदात्त, विचारशील, पवित्र भाव-युक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं।

[२४५]

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः।
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

शास्त्र में महापुरुषों ने मयूर के दृष्टान्त द्वारा सद्योग साधक का जो आख्यान किया है, उनका अभिप्राय यह है कि जैसे मयूरी के अण्डे, उसके सार, गुण आदि की शक्ति अन्य पक्षियों के अण्डों की तुलना में असाधारण विशेषता युक्त होती है। उत्पन्न होने वाले मयूर-शिशु का मूल अण्डे में ही तो है, जो समय पाकर सर्वांगसम्पन्न बाल-मयूर के रूप में आविर्भूत होता है। इसी प्रकार उत्तम योगसाधक की अपनी कुछ ऐसी अन्तर्निहित विशेषताएं होती हैं, जो यथासमय विशिष्ट, समुन्नत योगोपलब्धि के रूप में प्राकट्य पाती है।

[२४६]

प्रवृत्तिरपि चैतेषां धैर्यात् सर्वत्र वस्तुनि ।
अपायपरिहारेण दीर्घालोचनसङ्गता ॥

ऐसे उत्तम योगियों की सब वस्तुओं में, सब कार्यों में विघ्नों का परिहार करते हुए धैर्य तथा गहन चिन्तनपूर्वक प्रवत्ति होती है।

[२४७]

तत्प्रणेतृसमाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा ।
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीर्यस्तिमिताननाः ॥

योग-प्रणेताओं—महान् योगाचार्यों के सदुपदेश, विचार-दर्शन आदि से ऐसे सद्योगाभ्यासी पुरुषों का चित्तरूपी रत्न विभूषित रहता है अर्थात् वे अपने चित्त में तत्प्ररूपित दिव्य ज्ञान को संजोये रहते है। उनका व्यक्तित्व इतना उदात्त होता है कि अपना साध्य सिद्ध हो जाने पर भी वे विशेष उत्सुकता, उमंग नहीं दिखलाते, गम्भीर तथा स्थिर मुख-मुद्रा-युक्त रहते हैं।

[२४८]

फलवद् द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृशं तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं सानुबन्धं महर्षिभिः ॥

महर्षियों ने उत्तम, उत्तरोत्तर प्रशस्त शृंखलामय अनुष्ठान को फलों से आच्छन्न वृक्ष के श्रेष्ठ बीज तथा अंकुर के सदृश कहा है, बीज तथा

का—आगम-निरूपित तत्व-दर्शन का उल्लंघन कर वह योग-मार्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसकी अज्ञता ही तो है।

[२४१]

न सद्योगमव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया-विधि में प्रवृत्ति नहीं होती। जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति-धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता। अपने स्वरूप, स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है।

[२४२]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातॄणां श्रूयते परः ।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जनश्लाघो महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य-विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है, जो सब द्वारा प्रशंसित होता है।

[२४३-२४४]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥
औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग-धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील, श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम ओज से विभाजित, लोक-कल्याणकारी, समुचित कार्यों में संलग्न, उदात्त, विचारशील, पवित्र भाव-युक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं।

[२४५]

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

[२५९]

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आंख आंधी से उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[२६०]

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।
सर्वकर्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी सुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है, उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[२६१]

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥

वह परम प्रज्ञाशील, अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा, आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है, यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपेक्षित समय नष्ट नहीं करता, और कार्यों में खर्च नहीं करता, उन्हीं में लगाता है।

[२६२]

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक की प्रवृत्ति उसी

कता है कि उससे तीनों लोकों की सुख-समृद्धि प्राप्त हो जाती है और अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है।

[२५६]

हेतुभेदो महानेवमनयोयद् व्यवस्थितः ।
चरमात् तद् युज्यतेऽत्यन्कं भावातिशययोगतः ॥

इन दोनों प्रकार की शुश्रूषाओं में कारण का बड़ा भेद है। अन्तिम पुद्‌गल-परावर्त में स्थित भव्य प्राणी को अपने उत्तम भावों के कारण वीतराग-वाणी सुनने में प्रीति होती है।

[२५७]

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं भोगिनः स्त्र्यादिरागतः ।
भावतः कर्मसामर्थ्यात् प्रवृत्तिस्त्वन्यथाऽपि हि ॥

भोगासक्त पुरुष को स्त्री आदि के प्रति जितना अनुराग होता है, सम्यक्‌दृष्टि पुरुष को धर्म के प्रति उससे कहीं अधिक अनुराग होता है। यदि पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप कभी संसार में उसकी विपरीत प्रवत्ति हो तो भी उसका धर्मानुराग मिटता नहीं।

[२५८]

न चैवं तत्र नो राग इति युक्त्योपपद्यते ।
हविः पूर्णप्रियो विप्रो भुङ्क्ते यत् पूयिकाद्यपि ॥

विपरीत प्रवृत्ति में धर्मानुराग नहीं टिकता, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है। उदाहरणार्थ, जैसे ब्राह्मण को घृतसिक्त मिष्ठान्न प्रिय होता है किन्तु उसे कभी रूखा-सूखा भोजन भी करना पड़ता है। उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसे मिठाई से अनुराग नहीं है। रूखा-सूखा भोजन तो उसे बाध्य होकर करना पड़ता है, उसकी चाह तो मिठाई में ही रहती है। यही स्थिति यहाँ वर्णित सम्यक्‌दृष्टि साधक के साथ है। उसकी चाह तो सदा धर्म में ही रहती है, प्रतिकूल प्रवृत्ति में पड़ जाना होता है, यह पूर्वार्जित कर्मों का परिणाम है, दुर्बलता है।

[२५९]

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।
घातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आँख आँधी से उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[२६०]

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।
सर्वकर्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी सुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है, उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[२६१]

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥

वह परम प्रज्ञाशील, अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा, आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है, यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपेक्षित समय नष्ट नहीं करता, और कार्यों में खर्च नहीं करता, उन्हीं में लगाता है।

[२६२]

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक की प्रवृत्ति उसी

सीमा तक होती है, जहां तक उस द्वारा शक्य हो। शक्यता के बाहर प्रवृत्ति नहीं सधती।

अपनी शक्ति या योग्यता का ध्यान रखे बिना जो देव-पूजन आदि धर्म-कृत्यों में अंधाधुंध लगा रहता है, वहां वे कार्य केवल प्रवृत्ति मात्र—नितान्त यान्त्रिक होते हैं। उनकी वास्तविकता घटित नहीं होती। जो अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करता है, वे (कार्य) सही रूप में सधते हैं तथा उनका सत्फल प्राप्त होता है।

तीन करण—

[२६३]

एवं भूतोऽयमाख्यातः सम्यग्दृष्टिर्जिनोत्तमैः।
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशयः॥

जो यथाप्रवृत्तिकरण को पार कर चुका है, उत्तम परिणामयुक्त है, ऐसा पुरुष सर्वज्ञों द्वारा सम्यक्दृष्टि कहा गया है।

[२६४]

करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत् पुनस्त्रिधा।
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च॥

प्राणियों का आत्मपरिणाम या भावविशेष करण कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण। यथाप्रवृत्तकरण का ऊपर उल्लेख हुआ ही है।

[२६५]

एतत् त्रिधाऽपि भव्यानामन्येषामाद्यमेव हि।
ग्रन्थिं यावत् त्विदं तं तु समतिक्रामतोऽपरम्॥

ये तीनों प्रकार के करण भव्यात्माओं के सधते हैं। अभव्यात्माओं के केवल पहला—यथाप्रवृत्तकरण ही होता है। वे ग्रन्थि-भेद के निकट आकर वापस गिर जाते हैं। भव्यात्माओं के यह (यथाप्रवृत्तकरण) ग्रन्थि-भेद तक रहता है। ग्रन्थि-भेद की स्थिति प्राप्त कर, इसे लांघकर वे अपूर्वकरण में पहुँच जाते हैं।

[२६६]

भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न ।
पतितस्याप्यते बन्धो ग्रन्थिमुल्लंघ्य देशितः ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुकता है, उसके तृतीय करण होता है। उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपेक्षित नहीं रहता।

सम्यक्दृष्टि यदि वापस नीचे भी गिरता है तो उसके वैसा तीव्र कर्म-बन्ध नहीं होता, जैसा उसके होता है जो भिन्न-ग्रन्थि नहीं है।

[२६७]

एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः ।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविशेषतः ॥

मिथ्यादृष्टि होते हुए भी सामान्यतः उसके आत्मपरिणाम अच्छे होते हैं। इसलिए उसके जो कर्म-बन्ध होता है, वह बहुत गाढ़ नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं। एक वह मिथ्यादृष्टि है, जिसे सम्यक् दृष्टि कभी प्राप्त नहीं हुई। दूसरा वह मिथ्यादृष्टि है, जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकता है पर वापस नीचे आ जाता है। इन दोनों के कर्म-बन्ध में अन्तर होता है। पहला मिथ्यादृष्टि (जिसने सम्यक्त्व का कभी संस्पर्श नहीं किया) तीव्र एवं प्रगाढ़ कर्म-बन्ध करता है। सम्यक्दृष्टि से पतित मिथ्यादृष्टि उतना तीव्र तथा प्रगाढ़ कर्म-बन्ध नहीं करता। इसका कारण यह है कि जो जीवन में एक बार सम्यक्त्व पा जाता है, उसकी संस्कार-धारा में हलकी सी ही सही, एक ऐसी सत्त्वोन्मुखी रेखा खचित हो जाती है, जो उसके आत्म-परिणामों को उतना मलीमस नहीं होने देती, जितने मिथ्यादृष्टि के होते हैं।

[२६८]

सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ।
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यन्न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद नहीं होता, उसके सत्तर कोड़ाकोड़ सागर की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुका

है। उसके एक कोड़ाकोड़ सागर[1] की स्थिति के भी मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता।

सत्तर करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागर होता है। उसी प्रकार एक करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, वह एक कोड़ाकोड़ सागर होता है।

[२६९]

तदत्र परिणामस्य भेदकत्वं नियोगतः ।
बाह्यं त्वदनुष्ठान प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥

यद्यपि बाह्य दृष्टि से दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि पुरुषों का असत् अनुष्ठान—मिथ्या आचरण प्रायः समान होता है किन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं अतः उनमें भेद माना जाता है।

सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्त्व—

[२७०]

अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते ।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥

अन्तर्विकास की दृष्टि से इस अवस्था तक—सम्यक्दृष्टि तक पहुँचा हुआ पुरुष बौद्ध परंपरा में बोधिसत्त्व कहा जाता है। सम्यक्दृष्टि पुरुष में वह सब घटित है, जो बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में वर्णित है।

[२७१]

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥

बौद्ध आचार्यों ने बताया है कि बोधिसत्त्व कायपाती ही होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। अर्थात् कर्तव्य कर्म करते समय उनकी देह से हिंसा आदि अकुशल या अशुभ कर्म हो जाते हैं किन्तु चित्त से नहीं होते। उनका चित्त अपनी पवित्रता के कारण वैसे कार्यों में व्याप्त नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि के साथ भी यह स्थिति घटित होती है।

---

१. इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ के ३५२वें श्लोक का विवेचन द्रष्टव्य है।

[२७२]

परार्थरसिको धीमान्   मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तयेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥

परोपकार में रस—हार्दिक अभिरुचि, प्रवृत्ति में बुद्धिमत्ता—विवेकशीलता, धर्म-मार्ग का अनुसरण, भावों में उदात्तता, उदारता तथा गुणों में अनुराग—ये सब बोधिसत्त्व तथा सम्यक्‌दृष्टि—दोनों में समान रूप से प्राप्त होते हैं ।

[२७३]

यत् सम्यग् दर्शनं   बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥

सम्यक् दर्शन तथा बोधि वास्तव में एक ही वस्तु है। बोधिसत्त्व वह पुरुष होता है, जो बोधियुक्त हो, कल्याण-पथ पर सम्यक् गतिशील हो। सम्यक्‌दृष्टि का भी इसी प्रकार का शाब्दिक अर्थ है ।

[२७४]

वरबोधि समेतो वा   तीर्थकृद् यो भविष्यति ।
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥

अथवा सत्पुरुषों ने—प्रबुद्ध जनों ने यों भी माना है—जो उत्तम बोधि से युक्त होता है, भव्यता के कारण अपनी मोक्षोद्दिष्ट यात्रा में आगे चलकर तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, वह बोधिसत्त्व है ।

[२७५]

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं   सम्यक् चित्रं च देहिनाम् ।
तथा कालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः ॥

भव्यात्माओं का भव्यत्व-भाव अनादिकाल से सम्यक् सिद्ध है। अनुकूल समय, स्वभाव, नियति, कर्म, प्रयत्न आदि कारण-समवाय के मिलने पर वह बीज-सिद्धि के रूप में प्रकट होता है। जैसे समय पाकर बीज वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार वह विकास करता जाता है, उत्तरोत्तर उन्नत होते—बढ़ते गुणस्थानों द्वारा ऊँचा उठता जाता है ।

के रुक जाने से आत्मा को घोर दुःखमय दीर्घ संसार—जन्म-मरण के दीर्घकालीन चक्र में नहीं आना पड़ता । अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है ।

[२८३]

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः ॥

जन्मान्ध पुरुष को यदि पुण्योदय से नेत्र प्राप्त हो जाएँ तो वह वस्तुओं को यथावत् रूप में देखने लगता है । उसी प्रकार ग्रन्थि-भेद हो जाने पर मनुष्य तत्त्वतः वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । उसकी दृष्टि तत्त्वोन्मुख, सत्योन्मुख हो जाती है ।

[२८४-२८६]

अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग् वीक्ष्य महाशयः ।
तथा भव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥

"मोहान्धकारगहने संसारे दुःखिता बत ।
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥

अहमेतानतः कृच्छ्राद् यथायोगं कथञ्चन ।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वितः ॥

उच्च विचार-सम्पन्न वैसा पुरुष संसार की निःसारता का सम्यक् अवेक्षण करता हुआ भव्यत्वमयी—सत्त्वोन्मुखी—मोक्षानुगामिनी अन्तर्वृत्ति के कारण विविध रूप में सच्चिन्तन करता है—

मोह के अन्धकार से परिव्याप्त संसार में धर्म की दीप्तिमयी ज्योति के होते हुए भी प्राणी दुःखित बने भटक रहे हैं, कितना आश्चर्य है ।

मुझे उत्तम बोधि प्राप्त है । मैं उस द्वारा जहाँ तक संभव हो, किसी तरह उन्हें इस घोर दुःख के पार लगाऊँ—दुःखमुक्त करूँ ।

[२८७]

करुणादि गुणोपेतः परार्थव्यसनी सदा ।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः ॥

करुणा आदि गुण युक्त, पर-हित साधने में विशेष अभिरुचिशील, प्रज्ञावान्, उत्तरोत्तर विकास पाते आध्यात्मिक गुणों से समायुक्त वह सत्पुरुष अपने सदनुष्ठान में सदा यत्नशील रहता है।

[२८८]

तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥

दूसरों का अनेक प्रकार से कल्याण साधता हुआ, उपकार करता हुआ साधक तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, जो प्राणी मात्र के कल्याण साधने का सबसे बड़ा साधन है।

[२८६]

चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः ।
तथानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥

जो अपने पारिवारिक जनों, सम्बन्धियों का इसी प्रकार कल्याण-चिन्तन करता है, उनके लिए हितकर कार्य करता है, वह मतिमान् पुरुष गणधर[1] का पद प्राप्त करता है।

[२६०]

संविग्नो भवनिर्वेदावात्म—निःसरणं तु यः ।
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

संसार मे वैराग्य हो जाने के कारण जो संविग्न—संवेगयुक्त—हिंसा आदि परिहेय कार्यों को छोड़ आत्मस्वरूप अधिगत करने का त्वरापूर्ण उदात्त भाव लिये रहता है, आत्मोन्नति का आधार वह स्वयं है, यह सोचकर जो अपने कल्याण के लिए सम्यक् प्रयत्नशील होता है, वह मुण्डकेवली कहा जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, मुण्डकेवली का लक्ष्य केवल आत्मोत्थान होता है, दूसरों के उत्थानार्थ प्रयत्नशील होना उसका विषय नहीं है।

---

१. तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो श्रमण-संघ के अन्तर्वर्ती गणों—समुदायों के प्रधान होते हैं।

[२६१]

तथा भव्यत्वतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः ।
एवं चिन्ताविसिद्धिश्च सन्न्यायागमसंगता ॥

आत्मा की अपनी योग्यता तथा भिन्न-भिन्न बाह्य निमित्तों की प्राप्ति के कारण उस (आत्मा) में सत्त्वोन्मुख चिन्तन प्रादुर्भूत होता है, जो न्यायसगत एवं आगमानुगत है।

[२६२]

एवं कालादि भदेन बीजसिद्ध्यादिसंस्थितिः ।
सामग्र्यपेक्षया न्यायादन्यथा नोपपद्यते ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विविध प्रकार के निमित्त तथा अनुकूल आत्मसामग्रीरूप उपादान के कारण बीजसिद्धि—आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक्ज्ञान; सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि एवं लौकिक दृष्टि से प्रभावकता, आदेय भाव, चक्रवर्तित्व, राजत्व आदि स्थितियां प्राप्त होती हैं; विविध प्रकार की चामत्कारिक सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। कार्य-निष्पत्ति में अपेक्षित उपादान तथा निमित्त के संयोग को स्वीकार न किया जाए तो वह सब घटित नहीं होता, जो दृश्यमान है।

[२६३]

तत्तत्स्वभावता चित्रा तदन्यापेक्षणी तथा ।
सर्वाभ्युपगमव्याप्ता न्यायश्चात्र निर्दशितः ॥

जो जो कार्य निष्पन्न होते हैं, उनके मूल में वस्तुओं के स्वभाव की विचित्रता—विविधता एवं तदनुरूप भिन्न-भिन्न निमित्तों की अपेक्षा रहती है। तदनुसार कार्यों के स्वरूप में विभिन्नता होती है। यह सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है।

[२६४]

अधिमुक्त्याशयस्थैर्यविशेषवदिहापरे ।
इष्यते सदनुष्ठानं हेतुरत्रैव वस्तुनि ॥

अन्य विद्वानों के अनुसार तीर्थंकर, गणधर या मुण्डकेवली जैसा पद प्राप्त करने का कारण वह सदनुष्ठान है, जिसमें साधक मोक्ष-सिद्धि का विश्वास लिये हो, अपना चित्त विशेष स्थिरता से टिकाये हो।

[२६५]

विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति ।
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥

कई दार्शनिक वैसी स्थिति प्राप्त होने में ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर की कृपा से ये सब प्राप्त होते हैं, ऐसा मानते हैं तथा कई तत्त्ववादी प्रकृति के परिणमन-विशेष से इनके सधने की बात कहते हैं।

[२६६]

तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा नोभयत्राप्यदो भवेत् ।
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हन्तैवैव निबन्धनम् ॥

यदि आत्मा का वैसा स्वभाव न हो तो उपर्युक्त दोनों ही बातें—ईश्वरानुग्रह तथा प्रकृति का परिणमन-विशेष फलित नहीं होते। जिसका विविध रूपों में जैसा परिणत होने का स्वभाव हो, अपनी उपादान-सामग्री हो, उसमे विपरीत स्थिति अन्यों द्वारा नहीं लाई जा सकती। अतः आत्म-स्वभावता इसका मुख्य कारण है।

[२६७]

आर्थ्यं व्यापारमाश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते ।
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग् निरूप्यते ॥

यदि माध्यस्थ्य-भाव—तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर सम्यक् निरूपण करें, शब्दों के बजाय अर्थ-व्यापार—मूल तात्पर्य को लेकर विचार करें तो किसी अपेक्षा से इसमें दोष भी नहीं आता।

[२६८]

गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते ।
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा ॥

प्रकृष्ट—उत्कृष्ट, विशिष्ट गुणयुक्त; सब द्वारा वन्दनीय देव-विशेष का स्तवन—वन्दन, पूजन आदि करने का तदनुरूप फल संभावित है, यह भी एक दृष्टि से मानने योग्य है।

टीकाकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि देवोपासक को जो फल प्राप्त होता है, वह वस्तुतः उस साधक द्वारा किये गये वन्दन, पूजन आदि सदनुष्ठान का फल है। वन्दन, स्तवन आदि देवोद्दिष्ट होते हैं। अतः उद्दिष्टता या लक्ष्य की दृष्टि से वह देव-प्रसाद है, अभिप्रायशः ऐसा समझा जा सकता है।

[२९९]

सर्वश्चाप्यात्मनो यस्मादन्यतश्चित्रशक्तिकात ।
कर्माद्यभिधानादेर्नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

चित्रशक्तिक—विविध शक्तियुक्त—भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ कर्म आदि जब आत्मा को अनेक रूप में प्रभावित, परिणत करते हैं, वहाँ भी आत्मा की अपनी योग्यता या स्वभाव का साहचर्य है ही, जिसके बिना वे (कर्म आदि) फल-निष्पत्ति नहीं ला सकते फिर भी उन (कर्म आदि) द्वारा वैसा किया जाना निरूपित होता है। इस अपेक्षा से उपर्युक्त मान्यता में भी बाधा नहीं आती।

कालातीत का मन्तव्य—

[३००-३०७]

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदंपर्यव्यपेक्षया ।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥
अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥
मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥
अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥
विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः ॥
अविद्या क्लेश-कर्मादि यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।
गीयते ऽतीतहेतुभ्यो धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥
ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत् तद्भेदनिरूपणम् ।
सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥

माध्यस्थ्य-भाव का आलम्बन करते हुए, उद्दिष्ट विषय का यथार्थ अभिप्राय ध्यान में रखते हुए तत्त्वनिरूपण करना चाहिए। आचार्य कालातीत ने भी ऐसा ही कहा है—

मुक्तवादी—आत्मा को सदा, चिरन्तन मुक्त मानने वाले, अविद्यावादी—आत्मा को अविद्यावच्छिन्न मानने वाले अन्य तत्त्ववादियों द्वारा स्वीकृत मार्ग भी यही है। केवल अभिधान—अभिव्यक्ति आदि का भेद वहाँ है। तत्त्व-व्यवस्था में भेद नहीं है।

जो ऐश्वर्य—ईश्वरता—असाधारण शक्तिमत्ता के वैभव से युक्त माना जाता है, वह मुक्त, बुद्ध, अर्हन् आदि जिस किसी नाम से संबोधित किया जाए, ईश्वर है।

क्या परमात्मा या ईश्वर अनादिकाल से शुद्ध है, क्या ऐसा नहीं है ?—इत्यादि रूप में भेद-विकल्प—तर्क-वितर्क या वाद-विवाद, जो भिन्न-भिन्न मतवादियों द्वारा किया जाता है, वह वस्तुतः निरर्थक है।

परमात्मा के सम्बन्ध में हमें अपरिज्ञान है—व्यापक ज्ञान नहीं है। उस सन्दर्भ में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे भ्रान्तिजनक हैं, परस्पर-विरुद्ध हैं। मत-भिन्नता के बावजूद फल में, लक्ष्य में सबके अभिन्नता है। फिर विवाद की कैसी सार्थकता ?

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि को संसार का कारण माना गया है। वह वास्तव में प्रकृति ही है। केवल नामान्तर का भेद है।

प्रकृति को केन्द्रबिन्दु में प्रतिष्ठित कर किये गये इस विवेचन से प्रतीत होता है, कालातीत सांख्ययोगाचार्य थे।

भिन्न-भिन्न उपाधि—अभिधान आदि द्वारा उसके जो अन्यान्य भेद किये जाते हैं, उन्हें मानने का कोई यथार्थ प्रयोजन या हेतु नहीं है। बुद्धिमानों के लिए वे निरर्थक हैं।

अन्धे को रूप दिखलाना तथा उस सम्बन्ध में उससे निर्णय लेना अनुचित है। नेत्रहीन, जो किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता, उसके विषय में कैसे निर्णय कर सकता है। उसी प्रकार अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत नहीं की जा सकती, वस्तु के सम्बन्ध में अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता।

[३१६]

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ॥

अन्धा मनुष्य जैसे हाथ से छूकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान करता है, उसी प्रकार शास्त्र के सहारे व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि पदार्थों का कुछ निश्चय कर पाता है।

ग्रहण के समय चन्द्रमा राहु द्वारा किस सीमा तक ग्रस्त हुआ है, यह जानने हेतु कुछ-कुछ काले किये हुए काच द्वारा उसे देखा जाता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ के सम्बन्ध में जानने का प्रयास लगभग ऐसा ही है।

[३१७]

ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य तद्गम्भीरेण चेतसा ।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसङ्गतः ॥

साधक को चाहिए कि वह देव, गुरु, धर्म, आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में दुराग्रह का सर्वथा परित्याग करे, शास्त्रों में जो कहा गया है, उस पर गम्भीर चित्त से विचार करे तथा कार्यकारिता, लक्षण, स्वरूप की दृष्टि से जो समीचीन प्रतीत हो उसे ग्रहण करे।

भाग्य तथा पुरुषार्थ—

[३१८]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे युज्यते न्यायतः परम् ॥

भाग्य और पुरुषकार—पुरुषार्थ एक समान ही हैं, यह भी तत्त्व को

व्यवस्थित मानने पर—वस्तुओं को उनके विशेष स्वभाव के साथ स्वीकार करने पर ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है।

[३१९]

दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम् ।
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥

अतीत में किये गये शुभ या अशुभ कर्म ही तत्त्वतः भाग्य है। वे (कर्म) यदि शुभ हों तो सौभाग्य के रूप में और यदि अशुभ हो तो दुर्भाग्य के रूप में फलित होते है। पुरुषार्थ वर्तमान कर्म-व्यापार—क्रिया-प्रक्रिया है, जो यथावत् रूप में किये जाने पर सफलता देता है।

[३२०]

स्वरूपं निश्चयेनैतदनयोस्तत्त्ववेदिनः ।
ब्रुवते व्यवहारेण चित्रमन्योन्यसंश्रयम् ॥

तत्त्ववेत्ता भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों का स्वरूप निश्चय-दृष्टि से उपर्युक्त रूप में बतलाते हैं। भाग्य तथा पुरुषार्थ विचित्र रूप में—अनेक प्रकार से एक दूसरों पर आश्रित है, ऐसा वे (तत्त्ववेत्ता) व्यवहार-दृष्टि से प्रतिपादित करते हैं।

[३२१]

न भवस्थस्य यत् कर्म विना व्यापारसंभवः ।
न च व्यापारशून्यस्य फलं स्यात् कर्मणोऽपि हि ॥

जो व्यक्ति संसार में है, पूर्व संचित कर्म के बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं चलता। जब तक वह कर्म-व्यापार में संलग्न नहीं होता—कर्म-प्रवृत्त नहीं होता, तब तक संचित कर्म का फल प्रकट नहीं होता।

[३२२]

व्यापारमात्रात् फलदं निष्फलं महतोऽपि च ।
अतो यत् कर्म तद् दैवं चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥

कभी ऐसा होता है, थोड़ा सा प्रयत्न करते ही सफलता मिल जाती है और कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती। इसका

कारण अतीत में आचीर्ण विभिन्न प्रकार के कर्म हैं, जो वर्तमान में हितकर या अहितकर—सद्भाग्य या दुर्भाग्य, सफलता या विफलता के रूप में प्रकट होते हैं।

[३२३]

एवं पुरुषकारस्तु व्यापारबहुलस्तथा ।
फलहेतुर्नियोगेन ज्ञेयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥

जीवन में किये जाने वाले अनेक प्रकार के कार्य पुरुषार्थरूप हैं, जो अवश्य ही दूसरे जन्म में भी फल देते हैं।

[३२४]

अन्योन्यसंश्रयावेवं द्वावप्येतौ विचक्षणैः ।
उक्तावन्यैस्तु कर्मैव केवलं कालभेदतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे पर टिके हुए है, ऐसा विज्ञ पुरुषों ने बताया है। कई अन्य पुरुषों ने केवल कर्म को ही काल-भेद से फलप्रद कहा है। उनके अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि सभी कार्यों में काल के अनुसार कर्म अनुकूल या प्रतिकूल भाव प्राप्त करता है।

[३२५]

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥

पूर्वदेह—पूर्व जन्म में अपने द्वारा किया गया कर्म दैव—भाग्य कहा जाता है। वर्तमान जीवन में जो कर्म किया जाता है, वह पुरुषकार या पुरुषार्थ कहा जाता है।

[३२६]

नेदमात्मक्रियाभावे यतः स्वफलसाधकम् ।
अतः पूर्वोक्तमेवेह लक्षणं तात्त्विकं तयोः ॥

पूर्वजन्म में किया गया कर्म वर्तमान में क्रिया के अभाव में—क्रिया

न करने पर अपना फल नहीं देता अतः भाग्य तथा पुरुषार्थ का जो पहले लक्षण बताया गया है, वही तात्त्विक है।

[३२७]

दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चैषोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥

भाग्य जब दुर्बल होता है तो वह पुरुषार्थ द्वारा उपहत हो जाता है— प्रभावशून्य कर दिया जाता है। जब पुरुषार्थ दुर्बल होता है तो वह भाग्य द्वारा उपहत कर दिया जाता है। यदि भाग्य और पुरुषार्थ शक्तिमत्ता में असमान न हों तो यह पारस्परिक उपहनन—एक दूसरे को दबा लेने का क्रम संभव नहीं होता।

[३२८]

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः ।
स्वव्यापारगतत्वे तु तस्यैतदपि युज्यते ॥

तत्त्वतः कर्म द्वारा कर्म का उपघात नहीं होता। जब वे कर्म अतीत एवं वर्तमान आदि अपेक्षाओं से आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, तभी परस्परोपघात संभव होता है।

[३२९]

उभयोस्तत्स्वभावत्वे तत्तत्कालाद्यपेक्षया ।
बाध्यबाधकभावः स्यात् सम्यग्न्यायाविरोधतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ का अपना अपना स्वभाव है। भिन्न-भिन्न काल आदि की अपेक्षा से उनमें बाध्य-बाधक-भाव आता है।

जो बाधित या उपहत करता है, वह बाधक कहा जाता है, जो बाधित या उपहत होता है, वह बाध्य कहा जाता है। इनका पारस्परिक सम्बन्ध बाध्य-बाधक-भाव है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्यक्तया युक्तिपूर्वक विचार किया जाए तो निर्बाधरूप में वस्तु का यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

[३३०]

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात् कर्तृकर्मणोः ।
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्कटुपाकवत् ॥

कर्ता तथा कर्म के अपने नियमानुगत—नियमित स्वभाव के कारण निश्चित फल की प्राप्ति होती है। यदि वैसा न हो तो जैसे कोरडू—पत्थर की तरह स्वभावतः कड़ा मूंग बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पकता, उसी प्रकार उनके कर्म-समवाय का फल नहीं आता। सबलता-निर्बलता के कारण उपहत करने या उपहत होने की स्थिति नहीं बनती।

[३३१]

कर्मानियतभावं तु यत् स्याच्चित्रं फलं प्रति ।
तद् बाध्यमत्र दार्वादि प्रतिमायोग्यता समम् ॥

यदि कर्म का अनियत भाव—अनिश्चित स्वरूप माना जाए अर्थात् वह कोई नियत—निश्चित फल नहीं देता, ऐसा स्वीकार किया जाए तो उसके फल अनिवार्यतया विविध प्रकार के हो जायेंगे, किसका क्या फल हो, यह निश्चित ही नहीं रहेगी। यदि काष्ठ स्वयं ही प्रतिमा की योग्यता प्राप्त करले, प्रतिमा हो जाए, तो उसमें कौन बाधक हो, क्योंकि प्रस्तुत अभिमत के अनुसार वस्तु की कोई नियतस्वभावात्मकता तो होती नहीं। इससे पुरुषार्थ की भी कोई सार्थकता नहीं रहती।

[३३२]

नियमात् प्रतिमा नात्र न चातोऽयोग्यतैव हि ।
तल्लक्षणनियोगेन प्रतिमैवास्य बाधकः ॥

निश्चय ही काष्ठ-फलक जब तक अपने रूप में विद्यमान है, प्रतिमा नहीं है। काष्ठ-फलक में प्रतिमा होने की योग्यता है पर वैसी परिणति के लिए पुरुषार्थ चाहिए किन्तु वस्तु की अनियतभावात्मकता मान लेने पर पुरुषार्थ के अभाव में भी नहीं कहा जा सकता कि वह प्रतिमा नहीं हो सकती।

अपने लक्षण के आधार पर प्रतिमा ही इसमें बाधिका है कि विद्य-मान काष्ठ-फलक प्रतिमा नहीं है क्योंकि प्रतिमा के लक्षण वहाँ नहीं मिलते ।

[३३३]

दार्वादेः प्रतिमाक्षेपे तद्भवः सर्वतो ध्रुवः ।
योग्यस्यायोग्यता वेति न चैवा लोकसिद्धितः ॥

यदि काष्ठ-फलक प्रतिमा बनने की योग्यता रखता है तो सर्वत्र अनिवार्यतः वह प्रतिमा बने । नहीं बनता है तो उसकी योग्यता बाधित होती है । पर, लोक में ऐसा प्राप्त नहीं होता । सभी काष्ठ-फलक प्रतिमा बन जाते हों; ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता ।

[३३४]

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे दानादौ भावभेदतः ।
फलभेदः कथं नु स्यात् तथा शास्त्रादिसङ्गतः ॥

यदि कर्म पर भी इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो दान आदि पुण्य कार्यों का परिणाम-भेद से भिन्न-भिन्न फल आने का जो अपना नियत रूप है, जो शास्त्रानुगत है, वह भी नहीं टिक पाता ।

[३३५]

शुभात् ततस्त्वसौ भावो हन्ताऽयं तत्स्वभावभाक् ।
एवं किमत्र सिद्धं स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यदः ॥

दान आदि पुण्य कार्य करते समय जो मन में शुभ भाव उत्पन्न होता है, वह अतीत के शुभ कर्मों का परिणाम है । पूर्व आचीर्ण कर्मों का जैसा स्वभाव होता है, उनके अनुरूप ही भावों का स्वभाव होता है । अभी जो कर्म किये जाते हैं, कालान्तर में वे अतीत के कर्म होंगे, जिनके अनुरूप आगे भाव-निष्पत्ति होगी ।

यदि पूछा जाए, इससे क्या सिद्ध होता है, तो कथ्य तथ्य यह होगा कि शुभ कर्मों से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं तथा शुभ भावों से शुभ कर्म ।

[३३६]

तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि तत्स्वभावत्वसंस्थितौ ।
भवत्येवमिदं न्यायात् तत्प्रधान्याद्यपेक्षया ॥

भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों की स्थिति प्रधान-गौण-भाव से अपने-अपने स्वभाव पर टिकी है। जब जो प्रधान—मुख्य या प्रबल होता है, तब वह दूसरे को उपहत कराता है—प्रभावित करता है या दबाता है।

[३३७]

एवं च चरमावर्ते परमार्थेन बाध्यते।
दैवं पुरुषकारेण प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में भाग्य पुरुषार्थ द्वारा वस्तुतः उपहत होता है और उससे पूर्ववर्ती पुद्गलावर्तों में पुरुषार्थ भाग्य द्वारा उपहत या पराभूत रहता है।

[३३८]

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया ।
सूक्ष्मबुद्ध्याऽवगन्तव्यं न्यायशास्त्राविरोधतः ॥

धर्मशास्त्र तथा तर्क के अनुसार, साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर तुल्य हैं, व्यक्ति को सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक यह समझना चाहिए।

[३३९]

एवं पुरुषकारेण ग्रन्थिभेदोऽपि संगतः ।
तदूर्ध्वं बाध्यते दैवं प्रायोऽयं तु विजृम्भते ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में पुरुषार्थ द्वारा जो ग्रन्थि-भेद की स्थिति आती है, वह सर्वथा संगत है। उससे ऊर्ध्ववर्ती विकास की यात्रा में, गुणस्थानों के उत्थान-क्रम में प्रायः पुरुषार्थ द्वारा दैव या भाग्य उपहत—बाधित रहता है।

[३४०]

अस्यौचित्यानुसारित्वात् प्रवृत्तिर्नासती भवेत् ।
सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद् ध्रुवः कर्मक्षयो यतः ॥

यों जीव की जब औचित्यानुसारी—धर्मसाधनोचित प्रवृत्ति होने लगती है, वह असत् कार्यों में संलग्न नहीं होता। नियमपूर्वक श्रेष्ठ कार्यों में लगा रहता है, जिससे उसके संचित कर्मों का क्षय होता है।

[३४१]

संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः ।
संज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नैर्गुण्योपलब्धितः ॥

ज्ञान रूपी नेत्र द्वारा सम्यक्तया तत्त्वावलोकन करने पर साधक को इस जगत् में सुख, समाधि, शान्ति आदि गुण दिखाई नहीं देते, जन्म, वृद्धावस्था, रोग, शोक, मृत्यु आदि ही दीखने लगते हैं। इसीलिए उसे परमार्थतः—यथार्थ रूप में संसार से वैराग्य हो जाता है।

[३४२]

मुक्तौ दृढानुरागश्च तथातद्‌गुणसिद्धितः ।
विपर्ययमहादुःखबीजनाशाच्च तत्त्वतः ॥

मुक्ति में उसका सुदृढ़ अनुराग हो जाता है क्योंकि वह मोक्षोपयोगी गुणों को पहले ही संग्रहीत कर चुकता है तथा विपरीत ज्ञान रूप महादुःख के बीज को वास्तव में नष्ट कर चुकता है।

[३४३]

एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थमन्यथा तदभावतः ।
अस्यौचित्यानुसारित्वमलमिष्टार्थसाधनम् ॥

सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग तथा मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिए साधक मोक्षानुरूप या अध्यात्म-योग-संगत कार्य-विधि में प्रवृत्त रहता है, जिससे वह अपना इष्ट—आध्यात्मिक दृष्टि से अभीप्सित लक्ष्य साध लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह संसार-वृद्धि करने वाली प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकता।

[३४४]

औचित्यं भावतो यत्र तत्रायं संप्रवर्तते ।
उपदेशं विनाऽप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदितः ॥

जहाँ भावों में औचित्य—उचित स्थिति, उज्ज्वलता, पवित्रता होती है, वहाँ व्यक्ति बिना विशेष उपदेश के ही अन्तःप्रेरणा से स्वयं प्रेरित होकर सत्कार्य में प्रवृत्त होता है।

[३४५]

अतस्तु भावो भावस्य तत्वतः संप्रवर्तकः ।
शिराकूपे पय इव पयोवृद्धेर्नियोगतः ॥

वास्तव में मनुष्य का एक पवित्र भाव दूसरे पवित्र भाव को उत्तरोत्तर उत्पन्न करता जाता है। जैसे कुए के भीतर भूमिवर्ती जल-प्रणालिका द्वारा अनवरत जल-वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार यह पवित्र भावमयी परंपरा उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती रहती है—विकसित हो जाती है।

[३४६]

निमित्तमुपदेशस्तु पवनादिसमो मतः ।
अनैकान्तिकभावेन सतामत्रैव वस्तुनि ॥

जैसे कुए की सफाई—जल-प्रणालिका के समीपवर्ती पत्थर, कर्दम आदि को हटाना जल-वृद्धि का निमित्त बनता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में जैसा कि सत्पुरुष बतलाते हैं, अन्य का उपदेश निमित्त रूप में प्रेरक होता है पर वह ऐकान्तिक रूप में वैसा हो ही, यह बात नहीं है। वह सामान्यतया वैसी प्रेरणा करता है।

[३४७]

प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।
तदाश्रित्योपदेशोऽपि ज्ञेयो विध्यादिगोचरः ॥

औचित्यपूर्ण सदनुष्ठान क्रियान्वित करने से आगे भी वैसे पवित्र अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। ऐसे सदनुष्ठान पुरुष को उद्दिष्टकर शास्त्र-विधि—शास्त्र-सम्मत आचार के सम्बन्ध में उपदेश किया जाए—यह जानना चाहिए।

[३४८]

प्रकृतेर्याऽऽनुगुण्येन चित्रः सद्भावसाधनः ।
गम्भीरोचत्या मितश्चैव शास्त्राध्ययनपूर्वकः ॥

गंभीर उक्ति द्वारा शास्त्राध्ययनपूर्वक—शास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए परिमित शब्दों में श्रोता की प्रकृति के गुणानुरूप दिया गया उपदेश उनमें अनेक प्रकार से सात्त्विक भाव उत्पन्न करने का हेतु बनता है।

[३४९]

शिरोदकसमो भाव आत्मन्येव व्यवस्थितः ।
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया चाभिव्यक्तिस्ततस्ततः ॥

जैसे कुए की अन्तर्वर्ती जल-प्रणालिका जल का मूल स्रोत है, मूलतः जल वहीं होता है, बाह्य साधन, प्रयत्न उसे अभिव्यक्ति देते हैं—प्रकट करते हैं। वैसे ही मोक्षोपयोगी उत्तमभाव वास्तव में आत्मा में ही विशेष रूप से अवस्थित है, साधना के उपक्रम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं।

[३५०]

सत्क्षयोपशमात् सर्वमनुष्ठानं शुभं मतम् ।
क्षीणसंसारचक्राणां ग्रन्थिभेदादयं यतः ॥

जिनका संसार चक्र—जन्म-मरण का चक्र ग्रन्थि-भेद हो जाने से लगभग क्षीण होने के समीप होता है, सत्क्षयोपशम के कारण उनके सभी अनुष्ठान शुभ माने गये हैं।

[३५१]

भाववृद्धिरतोऽवश्यं सानुबन्धं शुभोदयम् ।
गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत् सुवर्णघटसन्निभम् ॥

उनसे अवश्य ही पवित्र भावों की वृद्धि होती है, जो पुण्य पूर्ण परंपरा की शृंखला के रूप में आगे चलती रहती है। अन्य सैद्धान्तिकों ने इसे स्वर्णघट के समान बताया है, टूटने पर भी जिसका मूल्य कम नहीं होता।

चारित्री—

[३५२]

एवं तु वर्तमानोऽयं चारित्री जायते ततः।
पल्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥

पूर्वोक्त सदनुष्ठान में प्रवृत्त साधक के जब दो से नौ पल्योपम तक के मध्य की कोई एक अवधि-परिमित कर्म विनिवृत्त हो जाते हैं—उनसे वह छुटकारा पा लेता है, तब चारित्री होता है।

यहाँ प्रयुक्त 'पल्योपम' शब्द एक विशेष, अति दीर्घकाल का द्योतक है। जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्धा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएँ, उनसे ठूँस-ठूँस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाए। भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह बह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खण्ड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार पल्योपम है। यह संख्यात-समय-परिमाण माना जाता है।

उद्धार पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक । उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने में यौगलिक शिशु के वालों के टुकड़ों की चर्चा आयी है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात, अदृश्य खण्ड किए जाएं। उन सूक्ष्म खण्डों से पूर्व वर्णित कुआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाए। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खण्ड कुए में से निकाला जाय। यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, विलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमें संख्यात-वर्ष कोटि परिमाण काल माना जाता है।

अद्धा-पल्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के वालों के टुकड़ो से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में एक-एक-टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ विलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्धा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पल्योपम का है। जिस प्रकार, सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में यौगलिक शिशु के वालों के टकड़ों के अंख्यात अदृश्य खण्ड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहाँ भी वैसे ही असंख्यात, अदृश्य केश खण्डो से वह कुआ भरा जाय। प्रति सौ वर्ष में एक खण्ड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म-अद्धा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम—ऊपर जिस कुए या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल खण्डों से उपर्युक्त रूप में दवा-दवा कर भर दिये जाने पर भी उन खंडों के बीच में आकाश प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते है।

वे खण्ड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल रूप में उन खण्डों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े-कोठे को कूष्मांडों—कुम्हड़ों से भर दिया गया। सामान्यतः देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नीबू और भरे जाएँ तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओं से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना चाहें तो वे भी समा जायेंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रहता है। यदि नदी के रज-कण उसमें भरे जाएँ, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूंटियाँ, कीलें गाड़ सकते हैं। यदि वास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालों के खण्डों के बीच-बीच में जो आकाश प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खण्डों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएँ, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए में भरे यौगलिक के केश-खण्डों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में,

एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशों से रिक्त हो जाए, वह कालपरिमाण सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।[1]

इस कोड़ाकोड़ पल्योपम को सागरोपम कहा जाता है। अर्थात् दस करोड़ पल्योपम को एक करोड़ पल्योपम से गुणा करने से जो गणनफल आता है, वह एक सागरोपम है।[2]

[३५३]

लिङ्गं मार्गानुसार्येष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः ।
गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्यारम्भसंगतः ॥

अध्यात्म-पथ का अनुसरण, श्रद्धा, धर्मोपदेश-श्रवण में अभिरुचि, गुणों में अनुराग, सदनुष्ठान में पराक्रमशीलता तथा यथाशक्ति धर्मानुपालन ये चारित्री के लक्षण हैं।

[३५४-३५५]

असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारपतितो यथा ।
गर्तादिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥

तथाऽयं भवकान्तारे पापादिपरिहारतः ।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः ॥

गहन वन में भटका हुआ अन्धा पुरुष, जिसके असात-वेदनीय—दुःखप्रद कर्मों का उदय नहीं है, खड्डे आदि से बचता हुआ सही सलामत अपने मार्ग पर चलता जाता है, उसी प्रकार संसाररूपी भयावह वन में भटकता हुआ वह पुरुष, जिसके सात-वेदनीय—सुखप्रद कर्मों का उदय है, अपने को पापों से बचाता हुआ शास्त्र-ज्ञानरूपी नेत्र से रहित होते हुए भी धर्म-पथ पर गतिशील रहता है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १३८-१४० तथा प्रवचन सारोद्धार द्वार ११८ में पल्योपम का विस्तार से विवेचन है।

२. स्थानांग सूत्र २.४.६६

[३५६]

अनीदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम् ।
ईदृशस्यापि वैकल्यं विचित्रत्वेन कर्मणाम् ॥

जो ऐसा नहीं है—इन गुणों से हीन है, उसके चारित्र नाम मात्र का —केवल वेश आदि बाह्य चिन्हों के रूप में होता है।

जो ऐसा है—इन गुणों से युक्त होता है, उसके भी पूर्व-संचित कर्मों की विचित्रता—प्रतिकूल प्रभावकारिता के कारण चारित्र में दोष आ जाता है।

[३५७]

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥

देश (अंशतः परिपालन) आदि के भेद से महान् पुरुषों ने चारित्र अनेक प्रकार का बतलाया है। पूर्व-वर्णित अध्यात्म आदि योग में चारित्री संप्रवृत्त होते हैं—अभ्यासरत रहते हैं।

[३५८]

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥

औचित्यपूर्ण—विधिवत् चारित्र्यसेवी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्त्व-चिन्तन, मैत्री, करुणा, प्रमोद तथा माध्यस्थ्य रूप उत्तम भावनाओं का जीवन में सम्यक् स्वीकार ज्ञानी जनों द्वारा अध्यात्म कहा जाता है।

[३५९]

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥

इससे पापों का क्षय होता है, आत्मपराक्रम जागरित होता है तथा पवित्र आचरण उदित होता है, तथा अविनश्वर ज्ञान स्वायत्त होता है, जो अनुभव-संसिद्ध—अनुभूति-प्रसूत अमृत है।

[३६०]

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।
मनः समाधिसंयुक्तः पौनः पुन्येन भावना ॥

इसका अभ्यास करने से, पुनः पुनः भावना करने से योगवृद्धि—योग-भावना का, योग साधना का विकास होता है, चित्त समाधियुक्त होता है—चित्त में शान्तिमय स्थिति का समावेश होता है। इसे भलीभांति समझना चाहिए।

[३६१]

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥

भावानुभावित रहने के फल-स्वरूप अशुभ अभ्यास—पापमय आचरण से निवृत्ति, शुभ योगाभ्यास में अनुकूलता—निर्बाध प्रगति तथा चित्त में पवित्रता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।

ध्यान—

[३६२]

शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥

शुभ प्रतीकों का एकाग्रत या आलम्बन—उन पर चित्त का स्थिरीकरण मनीषी—ज्ञानी जनों द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय होता है, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है।

[३६३]

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥

ध्यान के फलस्वरूप वशिता—आत्मवशता, आत्म-नियन्त्रण या जितेन्द्रियता अथवा सर्वत्र प्रभविष्णुता, सब पर अक्षुण्ण प्रभावशीलता,

मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध--भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है। यह ध्यान-वेत्ताओं का अभिमत है।

समता—

[३६४]

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥

अविद्या, माया या अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट—इच्छित, अनिष्ट--अनिच्छित वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण, अनाकर्षण अपगत हो जाता है, निःस्पृहता आ जाती है। दोनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसे समता कहते हैं।

[३६५]

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥

समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों—विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।

यह साम्यभाव की दिव्यावस्था है।

[३६६]

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥

पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का अनेक प्रकार से वैसा निरोध, जिससे वे पुनः उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[३६७]

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥

वृत्ति-सक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी-अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प, अडोल स्थिति तथा निर्बाध, आनन्दविधायक—परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

जैन-दर्शन के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा चवदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है।

तात्त्विक : अतात्त्विक—

[३६८]

तात्त्विको ऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा।
तस्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥

तात्त्विक तथा अतात्त्विक यों पहले योग के जो भेद बताये हैं, वे किस-किस श्रेणी के पुरुषों के सधते है, इत्यादि दृष्टिकोण से यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

[३६६]

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः।
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥

अध्यात्मयोग तथा भावनायोग अपुनर्बन्धक के व्यवहार-दृष्टि से और चारित्री के निश्चय-दृष्टि से सधते है।

इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुनर्बन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।

[३७०]

सकृतदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥

सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्म-योग एवं भावना-योग अतात्त्विक होते है। क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेष आदि केवल बाह्य प्रदर्शन होता है। जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्ट-कर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।

जिस पुद्गल-परावर्त को पार कर व्यक्ति चरम-पुद्गल-परावर्त में

मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध--भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है। यह ध्यान-वेत्ताओं का अभिमत है।

समता—

[३६४]

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥

अविद्या, माया या अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट—इच्छित, अनिष्ट—अनिच्छित वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण, अनाकर्षण अपगत हो जाता है, निःस्पृहता आ जाती है। दोनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसे समता कहते हैं।

[३६५]

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥

समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों—विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।

यह साम्यभाव की दिव्यावस्था है।

[३६६]

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा ।
अपुनर्भावरूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥

पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का अनेक प्रकार से वैसा निरोध, जिससे वे पुनः उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[३६७]

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥

वृत्ति-संक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी-अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प, अडोल स्थिति तथा निर्बाध, आनन्दविधायक—परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

जैन-दर्शन के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा चवदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है।

तात्त्विक : अतात्त्विक—

[३६८]

तात्त्विको ऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा ।
तस्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥

तात्त्विक तथा अतात्त्विक यों पहले योग के जो भेद बताये है, वे किस-किस श्रेणी के पुरुषों के सधते है, इत्यादि दृष्टिकोण से यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

[३६९]

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥

अध्यात्मयोग तथा भावनायोग अपुनर्बन्धक के व्यवहार-दृष्टि से और चारित्री के निश्चय-दृष्टि से सधते है।

इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुनर्बन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।

[३७०]

सकृतदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः ।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥

सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्म-योग एवं भावना-योग अतात्त्विक होते हैं। क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेष आदि केवल बाह्य प्रदर्शन होता है। जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्ट-कर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।

जिस पुद्गल-परावर्त को पार कर व्यक्ति चरम-पुद्गल-परावर्त में

आता है, वह (चरम पुद्गल-परावर्त से पूर्व का अन्तिम आवर्त) सकृत् आवर्त या सकृत् आवर्तन कहा जाता है।

[३७१]

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥

चारित्री को ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय संज्ञक योग उसकी शुद्धि—आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चित रूप में प्राप्त होते हैं। वे तात्त्विक होते हैं।

[३७२]

अस्यैव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृतः ।
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथाऽपरः ॥

अपाय—विघ्न या साधनाविपरीत स्थिति से जो बाधित नहीं हैं, उनको उत्तरवर्ती विकास शृंखला सहित यथावत् रूप में योग प्राप्त होता है।

जो अपाययुक्त हैं उनके लिए ऐसा नहीं होता है।

[३७३]

अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम् ।
पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

अपायरहित—निर्बाधरूप में साधना-परायण महापुरुषों ने अतीत में संचित पापाशयकर हिंसा, असत्य, चौर्य्य, लोभ, अहंकार, छल, क्रोध, द्वेष, व्यभिचार आदि से सम्बद्ध विविध कर्मों को अपाय कहा है। वे निरुपक्रम संज्ञा से भी अभिहित हुए हैं। उनका फल अवश्य भोगना होता है।

[३७४]

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्नः प्रकीर्तितः ।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥

अन्य विचारकों ने भी मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए कण्टक-विघ्न, ज्वर-विघ्न तथा मोक्ष-विघ्न के रूप में आनेवाली वाधाओं की चर्चा की है ।

राहगीर के पैर में कांटा चुभ जाए तो उसकी गति रुक जाती है, यदि वह यात्रा के बीच में ज्वर-ग्रस्त हो जाए तो भी आगे चलने में बाधा आजाती है और यदि वह दिग्भ्रान्त हो जाए—उसे दिशाओं का यथावत् ज्ञान न रहे तो आगे चलना कठिन हो जाता है, ऐसी ही विघ्नपूर्ण स्थितियाँ साधक के समक्ष आती हैं, जिन्हें उसे पार करते हुए आगे वढ़ना होता है ।

सास्रव : अनास्रव—

[३७५]

अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो वहुजन्मान्तरावहः ।
पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः ॥

योग का पूर्व-वर्णित एक भेद सास्रवयोग है, जो उस साधक के सधता है, जिसके अन्तिम मंजिल—मोक्ष तक पहुँचने में अभी अनेक जन्म पार करना वाकी होता है ।

पहले किये गये विवेचन के अनुसार निरास्रव-योग उस साधक के सधता है, जिसे केवल एक ही जन्म में से गुजरना होता है, आगे जन्म नहीं लेना पड़ता ।

[३७६]

आस्रवो वन्धहेतुत्वाद् वन्ध एवेह यन्मतः ।
स सांपरायिको मुख्यस्तदेयोऽर्थोऽस्य संगतः ॥

आस्रव कर्म-वन्ध का हेतु है, इसलिए एक दृष्टि से वह वन्ध ही है । वस्तुतः कर्म-वन्ध का मुख्य कारण कपाय—कपायानुप्रेरित आस्रव है । वन्ध के साथ उसी की वास्तविक संगति है ।

[३७७]

एवं चरमदेहस्य संपरायवियोगतः ।
इत्वरास्रवभावेऽपि स तयाऽनास्रवो मतः ॥

जो चरम-शरीरी है—वर्तमान शरीर के बाद जिसे और शरीर धारण नहीं करना है, मुक्त होना है, जिसके संपराय-वियोग—कषाय-वियोग सध गया है—जिसके कषाय नहीं रहे हैं, उसके सांपरायिक आस्रव-बन्ध नहीं होता। वैसी स्थिति में अन्य—अति सामान्य आस्रव के गतिमान् रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है, क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प एवं हल्का होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें संयोग केवली गुणस्थान में इसी प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। प्रस्तुत विवेचन के अनुसार जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव-कोटि में आता है।

[३७८]

निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः।
निश्चय-व्यवहारौ च द्वावप्यभिमतार्थदौ ॥

अनास्रव का अर्थ निश्चय नय के अनुसार सर्वथा आस्रव-रहित अवस्था है और व्यवहार-नय के अनुसार सांपरायिक आस्रव-रहित अवस्था, जो लगभग आस्रव-रहितता के निकट होती है, वहाँ से व्यक्ति शीघ्र अनास्रव-दशा प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार-नय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चय-नय के विपरीत नहीं जाता, सर्वत्र तत्संगत ही होता है। यों निश्चय तथा व्यवहार—दोनों ही अभिमत—यथार्थतः स्वीकृत अर्थ ही प्रकट करते हैं।

उपसंहार—

[३७९]

संक्षेपात् सफलो योग इति संदर्शितो ह्ययम्।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः ॥

संक्षेप में योग का फल सहित वर्णन किया जा चुका है। आदि—अध्यात्म तथा अन्त—वृत्तिसंक्षय का विशेष रूप से पुनः स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

[३८०]

तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु ।
उक्तं विचित्रमेतच्च तथावस्थादिभेदतः ॥

जैसा व्याख्यात हुआ है, औचित्ययुक्त—समुचित, शास्त्रसमर्थित क्रिया-प्रक्रिया में संलग्न पुरुष द्वारा किया जाता तत्त्व-चिन्तन अध्यात्म है। अवस्था आदि के भेद से वह विविध प्रकार का है।

[३८१]

आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते ।
देवतानुग्रहाङ्गत्वादतोऽयमभिधीयते ॥

योग के आदि—प्रारम्भिक कर्म के रूप में अथवा जो पुरुष योग में प्रविष्ट हो रहा हो, नवाभ्यासी हो, उसकी दृष्टि से जप अध्यात्म है—अध्यात्म का प्रारम्भिक रूप है। जप देवता के अनुग्रह का अंग है—उससे देवानुग्रह प्राप्त होता है। जप सम्बन्धी विवेचन यहां प्रस्तुत है।

जप—

[३८२]

जपः सन्मन्त्रविषयः स चोक्तो देवतास्तवः ।
दृष्टः पापापहारोऽस्माद् विषापहरणं यथा ॥

उत्तम मन्त्र जप का विषय है। वह देव स्तवन के रूप में होता है। जैसे मन्त्र-प्रयोग से सर्प आदि का विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार मन्त्र-जप से पाप का अपहार—अपगम हो जाता है—आत्मा से पाप दूर हो जाते हैं।

[३८३]

देवतापुरतो वाऽपि जले वाऽकलुषात्मनि ।
विशिष्टद्रुमकुञ्जे वा कर्तव्योऽयं सतां मतः ॥

सत्पुरुषों का अभिमत है कि जप देवता के समक्ष, शुद्ध जलमय नदी, सरोवर, कूप, वापी आदि के तट पर या किसी विशिष्ट द्रुम-कुंज में—मण्डप की तरह छाये वृक्ष युक्त स्थान में करना चाहिए।

[३८४-३८५]

पर्वोपलक्षितो यद् वा पुत्रंजीवकमालया ।
नासाग्रस्थितया दृष्ट्या प्रशान्तेनान्तरात्मना ॥
विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु यथेष्यते ।
अर्थे चालम्बने चैव त्यागश्चोपप्लवे सति ॥

जप के समय हाथ का अँगूठा अपनी अँगुलियों के पोरों (पेरवों) पर अथवा रुद्राक्ष की माला के मनकों पर चलता रहे। दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिकी रहे। अन्तरात्मा में प्रशान्त भाव रहे। चित्त-वृत्ति जप के विषय, अक्षर, तद्गत अर्थ, आलम्बन—विषयगत मूल आधार के साथ संलग्न रहे। उपप्लव—मानसिक बाधा या विघ्न की अनुभूति हो, तब जप करना बन्द कर देना चाहिए।

[३८६]

मिथ्याचारपरित्याग आश्वासात् तत्र वर्तनम् ।
तच्छुद्धिकामता चेति त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः ॥

मानसिक बाधा आदि आने पर जो जप का त्याग किया जाता है, वह (त्याग) वास्तव में त्याग न होकर अत्याग की श्रेणी में आता है। क्योंकि उससे मिथ्याचार—केवल कृत्रिम रूप में करिष्यमाण सत्परिणाम-शून्य क्रिया का त्याग होता है। उस त्याग के फलस्वरूप अन्तर्विश्वास या आस्थापूर्वक पुनः जप करने की वृत्ति सुदृढ़ होती है। जप में सदा शुद्धि बनी रहे, यह भावना जागरित होती है।

[३८७]

यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमानं प्रकीर्तितम् ।
अतो ह्यकरणे ऽप्यत्र भाववृत्तिं विदुर्बुधाः ॥

जप की समयावधि अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार है। अर्थात् जितने समय जप करने की भावना हो, साधक उतने समय के लिए जप करने की प्रतिज्ञा करे। तदनुरूप यथाविधि जप संपादित करे।

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि यों प्रतिज्ञापूर्वक जप करने वाले

के व्यक्तित्व में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि जिस समय वह जप नहीं करता हो, उस समय भी उसकी अन्तर्वृत्ति जप पर ही केन्द्रित रहती है।

[३८८]

मुनीन्द्रैः शस्यते तेन यत्नतोऽभिग्रहः शुभः ।
सदाऽतो भावतो धर्मः क्रियाकाले क्रियोद्भवः ॥

जप के सन्दर्भ में किये जाते विशेष लक्ष्यपूर्ण शुभ संकल्प की मुनिवर्य प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उससे क्रियोचित समय में क्रिया परि-सम्पन्न होती है। उसके फलस्वरूप भाव-धर्म अन्तःशुद्धिमूलक अध्यात्म धर्म निष्पन्न होता है।

योग्यतांकन—

[३८९]

स्वौचित्यालोचनं सम्यक् ततो धर्मप्रवर्तनम् ।
आत्मसंप्रेक्षणं चैव तदेतदपरे जगुः ॥

कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार अपने औचित्य—योग्यता का सम्यक् आलोचन—भली-भाँति अंकन, तदनुसार धर्म में प्रवृत्ति तथा आत्म-संप्रेक्षण—आत्मावलोकन अध्यात्म है।

[३९०]

योगेभ्यो जनवादाच्च लिङ्गेभ्योऽथ यथागमम् ।
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमाः ॥

जिन्होंने योग के मार्ग में श्रम किया है—जो तपे हुए योग साधक हैं, वे बतलाते हैं कि साधक योग द्वारा, जनवाद द्वारा तथा शास्त्र-वर्णित चिन्हों द्वारा अपनी योग्यता का अवलोकन करें।

[३९१]

योगाः कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा ।
शकुनादीनि लिङ्गानि स्वौचित्यालोचनास्पदम् ॥

योग का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक, वाचिक प्रवृत्ति है। जनवाद का अर्थ अपने सम्बन्ध में लोगों में प्रचलित बातें, अफवाहें हैं। लिङ्ग का अर्थ शकुन आदि चिन्ह हैं। इनसे अपने औचित्य या योग्यता का निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकता है।

[३९२]

एकान्तफलदं ज्ञेयमतो धर्मप्रवर्तनम् ।
अत्यन्तं भावसारत्वात् तत्रैवाप्रतिबन्धतः ॥

अपनी योग्यता का अंकन कर धर्म में प्रवृत्त होना एकान्तरूपेण—निश्चित रूप से फलप्रद है। वैसा करते साधक के मन में अत्यन्त उच्च भाव रहता है। उसकी सत्यवृत्ति में कोई प्रतिबन्ध या विघ्न नहीं आता।

[३९३]

तद्भङ्गादिभयोपेतस्तत्सिद्धौ चोत्सुको दृढम् ।
यो धीमानिति सन्न्यायात् स यदौचित्यमीक्षते ॥

जो अपने सत्प्रयत्न में विघ्न, बाधा आदि से भय मानता हुआ जागरूक रहता है, सफल होने का उत्साह लिए रहता है, जो बुद्धिमान है, वह न्याययुक्तिपूर्वक अपनी योग्यता को आँक लेता है।

[३९४-३९५]

आत्मसंप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि ।
पापकर्मोदयादत्र भयं तदुपशान्तये ॥
विस्रोतोगमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत् ।
गुर्वाद्याश्रयणं सम्यक् ततः स्याद् दुरितक्षयः ॥

अतीत में आचरित अशुभ कर्मों के उदय से मन में यह भय हो जाता है कि कहीं कोई विघ्न न आ जाए। इस भय को उपशान्त करने हेतु साधक, जिसने योगानुष्ठान आरम्भ किया हो, आत्मावलोकन करे—यह देखे कि कहीं अपने सदनुष्ठान के यथावत् आचरण में उससे कोई भूल तो नहीं हो रही है।

यदि साधक को ऐसा भान हो, उसकी आत्मा विपरीत—योग-साधना के प्रतिकूल प्रवाह में वह रही है तो जैसे भय, खतरा उत्पन्न हो जाने पर व्यक्ति बचने के लिए सुरक्षित स्थान में चला जाता है, वैसे ही उसे गुरु आदि महान् पुरुषों की शरण में चला जाना चाहिए। इससे भय, खतरा टल जाता है।

[३९६]

सर्वमेवेदमध्यात्मं कुशलाशयभावतः ।
औचित्याद् यत्र नियमाल्लक्षणं यत् पुरोदितम् ॥

उचित रूप में, नियमित रूप में पूर्व वर्णित लक्षण जहाँ घटित होते हैं, वह सब, पुण्यात्मक परिणामों के कारण अध्यात्म है।

देव-वन्दन—

[३९७]

देवादिवन्दनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च ।
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे जगुः ॥

देव आदि का भली-भाँति वन्दन-पूजन करना, यथाविधि प्रतिक्रमण करना—अपने द्वारा हुई भूलों के लिए प्रायश्चित्त करना, आत्म-मार्जन करना, मैत्री, करुणा, प्रमोद, माध्यस्थ्य रूप भावनाओं का चिंतन-अनुचिन्तन करना अध्यात्म है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है।

[३९८-३९९]

स्थानकालक्रमोपेतं शब्दार्थानुगतं तथा ।
अन्यासंमोहजनकं श्रद्धासंवेगसूचकम् ॥
प्रोल्लसद्भावरोमाञ्चं वर्धमानशुभाशयम् ।
अत्नामादिसंशुद्धमिष्टं देवादिवन्दनम् ॥

उचित आसन, विहित समय, विधिक्रम का ध्यान रखना, स्तवनरूप में उच्चारित होते शब्दों के अर्थ पर गौर करते जाना, पूजारत अन्य व्यक्ति के मन में भ्रम, अव्यवस्था उत्पन्न न करना, श्रद्धा तथा तीव्र उत्साह लिए रहना, भक्तिभाव-प्रसूत हर्ष के कारण रोमांचित होना, पवित्र भावों का

उत्तरोत्तर बढ़ते जाना, शुद्धभाव से प्रणमन आदि करना—इत्यादि पूर्वक देव-पूजन का विधान है।

प्रतिक्रमण—

[४००]

प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः।
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति ॥

यदि प्रमाद—शुद्ध उपयोग के अभाव या धर्म के प्रति आत्मपरिणामगत अनुत्साह, असावधानी के कारण दोष-सेवन हो जाए तो दिन में दो बार—प्रातः एवं सायं प्रतिक्रमण करना चाहिए। यदि दोष सेवन न हुआ हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह तीसरे वैद्य की औषधि की ज्यों आत्मा के लिए लाभप्रद, श्रेयस्कर सिद्ध होता है।

ग्रन्थकार ने तीसर वैद्य की औषधि का उल्लंघन करते हुए जिस दृष्टान्त की ओर संकेत किया है, वह जैन-साहित्य का प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जो इस प्रकार है—

एक राजा था। उसका युवा पुत्र—युवराज अस्वस्थ रहने लगा। राजा ने अपने राज्य के तीन विख्यात वैद्यों को बुलाया और प्रत्येक वैद्य को अपनी-अपनी औषधि का गुण बताने को कहा।

पहला वैद्य बोला—मेरी औषधि बड़ी प्रभावकारी है। जिस रोग पर दीजिए उसे सर्वथा नष्ट कर देती है। पर एक बात है, यदि वह रोग न हो तो दूसरा रोग उत्पन्न कर देती है।

राजा बोला—वैद्यवर! आपकी औषधि भयजनक है। राजकुमार के लिए उसका उपयोग समीचीन नहीं है।

दूसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधि की यह विशेषता है, जिस रोग पर दीजिए, उसे बिलकुल मिटा देती है। यदि रोग न हो तो उससे न लाभ होता है और न हानि।

राजा को दूसरे वैद्य की औषधि भी उपयुक्त नहीं जची।

तब तीसरे वैद्य ने बताया—राजन्! मेरी औषधि औरों से निराली

है। जिस रोग पर सेवन की जाए, उसे उन्मूलित कर देती है। यदि रोग न हो तो देह के लिए मेरी औषधि रसायन है। वह रक्त, मांस, बल, वीर्य, ओज तथा सौन्दर्य बढ़ाती है।

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—मेरे राजकुमार के लिए यही औषधि समीचीन है।

इस दृष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार का यह आशय है कि दोष-सेवन न होने पर भी प्रतिक्रमण करना इसलिए लाभजनक है कि उससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्म-गुणों की वृद्धि होती है। जीवन का कल्याण होता है।

[४०१]

निषिद्धासेवनादि यद् विपयोऽस्य प्रकीर्तितः।
तदेतद् भावसंशुद्धेः कारणं परमं मतम् ॥

निषिद्ध—जिनका निषेध किया गया है, ऐसे आचरणों का जैसा, जितना आसेवन किया जाता है, उतना साधना में दोष आता है। प्रतिक्रमण उसकी भाव संशुद्धि-भावात्मक संशोधन—सम्मार्जन का परम हेतु है।

भावनानुचिन्तन—

[४०२]

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम् ।
सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥

साधक को चाहिए, वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणसम्पन्न पुरुषों को देख मन में प्रसन्नता, कष्ट-पीड़ित लोगों के प्रति करुणा तथा अज्ञानी जनों के प्रति माध्यस्थ्य—तटस्थता की भावना से अनुभावित—अपने दैनन्दिन चिन्तन में अनुप्राणित रहे।

[४०३]

विवेकिनो विशेषेण भवत्येतद् यथागमम् ।
तथा गम्भीरचित्तस्य सम्यग्मार्गानुसारिणः ॥

विवेकशील, गम्भीरचेता तथा सन्मार्गानुगामी पुरुषों के चित्त में ये

भावनाएँ, जैसा कि शास्त्रों में बताया गया है, विशेष रूप से उद्‌भावित होती हैं।

[४०४]

एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्थयोगतः।
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥

"अधि—आत्मनि—जो आत्मा को अधिष्ठित कर रहता है—आत्मा में टिकता है, वह अध्यात्म है" इस व्युत्पत्ति के अनुसार अध्यात्म तत्सम्बद्ध बहुविध कार्य-कलाप में घटित है, संगत है, अध्यात्म-चिन्तन में अभिरत पुरुषों को यह जानना चाहिए।

वृत्तिसंक्षय—

[४०५]

भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥

भावना, ध्यान तथा समता के अभ्यास से वृत्ति-संक्षय उद्‌भावित होता है। उसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम—दूर होना है। दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होते रहने की वृत्ति—वर्तन—स्थिति या अवस्था का संक्षय होना—मिट जाना वृत्ति-संक्षय है।

[४०६]

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु ॥

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाओं को वृत्तियाँ कहा गया है। वे आत्मा का अन्य—आत्मेतर—विजातीय पदार्थों के साथ संयोग होने से निष्पन्न होती हैं। वह कारण, जिससे ऐसा होता है, योग्यता कहा जाता है।

[४०७]

तदभावेऽपि तद्‌भावो युक्तो नातिप्रसङ्गतः।
मुख्येयं भवमातेति तदस्या अयमुत्तमः ॥

योग्यता के अभाव में संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा न माना जाए तो सर्वत्र अव्यवस्था हो जाए। अतः यह—आत्मा की विजातीय पदार्थों के साथ संयुक्त या सम्बद्ध होने की योग्यता मुख्य भवमाता—जन्म-मरणरूप संसारावस्था की प्रमुख उत्पादिका है। जगत् प्रवाह का यही प्रमुख आधार है।

[४०८]

पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः।
स्यान्मूलापगमे यद्वत् तद्वद् भवतरोरपि ॥

वृक्ष का मात्र तना काट देने से पत्र आदि का अपुनर्भाव—फिर उत्पन्न न होना घटित नहीं होता अर्थात् तना काट देने पर भी समय पाकर फिर वह हरा-भरा हो जाता है, नये अंकुर फूटने लगते है, पत्तियाँ निकल आती हैं, बढ़ जाने पर फूल लगने लगते हैं पर यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाय तो फिर वैसा कुछ नहीं होता। पत्ते, फूल आदि सब आने बन्द हो जाते हैं। संसाररूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। जब तक उसका मूल उच्छिन्न न हो, वह बढ़ता एवं फलता-फूलता रहता है।

[४०९]

मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा हन्त तत्त्वमिदं परम् ॥

योग्यता, जिसका लक्षण पूर्ववर्णित है, संसाररूपी वृक्ष का मूल है। वृत्तियाँ तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परम तत्त्व है—यथार्थ वस्तु-स्थिति है।

[४१०]

उपायोपगमे चास्या एतदाक्षिप्त एव हि।
तत्त्वतोऽधिकृतो योग उत्साहादिस्तथाऽस्य तु ॥

जीवन का यथार्थ लक्ष्य साधने, आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का परिसमापन करने का उपाय उसी से अधिगत है, और तत्त्वतः वह योग है, जो उत्साह आदि से सधता है।

[४११]

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्व-दर्शन तथा जनपद-त्याग—अपने परिचित प्रदेश, स्थान आदि का त्याग अथवा साधारण लौकिक जनों द्वारा स्वीकृत जीवन-क्रम का परिवर्जन—ये छः योग सधने के हेतु हैं।

[४१२]

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यस-रसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम—शास्त्रपरिशीलन, अनुमान, ध्यान के अभ्यास एवं रस—तन्मयता व अनुभूतिजनित आनन्दपूर्वक बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, बुद्धि को संस्कारित बनाता हुआ साधक उत्तम योग प्राप्त करता है।

[४१३]

आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरखिलस्तथा।
फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥

आत्मा, कर्म तथा कारण पूर्वक होनेवाला उसका सम्बन्ध, शुभ एवं अशुभ फल, कर्मों का आत्मा से पार्थक्य—अलगाव यह सब उनके आत्मा और कर्म के स्वभाव से घटित होता है।

[४१४]

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत्।
अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते ॥

पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है, जब वह आत्मा, कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो। वैसा न होने से—वस्तु-स्वभाव के विपरीत होने से, यह न्यायानुमोदित नहीं है कि वह कार्यकर हो अर्थात् उसकी कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती। अतः उसे प्रशस्त नहीं माना जाता।

[४१५]

अतोऽकरणनियमात् तत्तद्वस्तुगतात्तथा।
वृत्त्योऽस्मिन्निरुध्यन्ते तास्तास्तद्बीजसम्भवाः ॥

यदि विभिन्न वस्तुओं के स्वभाव को कार्य साधने में कारण न माना जाए, एक मात्र पुरुषार्थ को ही माना जाए तो आत्मा में विविध कर्मरूप चीजों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ पुरुषार्थ द्वारा निरस्त हो जायेंगी।

[४१६]

ग्रन्थिभेदे यथैवायं बन्धहेतुं परं प्रति।
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः॥

जिसका ग्रन्थि-भेद हो गया हो, वहाँ कर्मों के अति तीव्र बन्ध होने का कोई हेतु नहीं रहता, उक्त मान्यता से वहाँ भी बाधा उत्पन्न होती है। इसी प्रकार नरक आदि गतियों में भी हेतु की अकरणता रहती है।

[४१७]

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्र गतिस्तथा।
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम्॥

अन्य कारणों की अकरणता मानी जाए तो आत्यन्तिक मृत्यु—मोक्ष तथा कर्मानुरूप बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेना, जो आगम-प्रतिपादित है, घटित नहीं होता।

[४१८]

हेतुमस्य परं भावं सत्त्वाद्यायोगनिवर्तनम्।
प्रधानकरुणारूपं ब्रुवते सूक्ष्मदर्शिनः॥

सूक्ष्म-द्रष्टा ज्ञानियों का कथन है कि प्राणियों के प्रति असदाचरण, पापमय विचार पवित्र मनोभावों से अपगत होते हैं, जिनमें करुणा का प्रमुख स्थान है।

[४१९]

समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा॥

पातञ्जल योगियों द्वारा उपर्युक्त योगोत्कर्ष सम्प्रज्ञात समाधि के रूप में अभिहित हुआ है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार 'सम्' का अर्थ सम्यक्; 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट—उत्कृष्ट तथा 'ज्ञात' का अर्थ ज्ञानयुक्त है। इसका

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति, जहाँ चित्त में इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा गृहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यक्तया, उत्कृष्टतया ज्ञात रहे, चित्त का एकमात्र वहीं टिकाव हो, वह और कहीं भटके नहीं, संप्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस, तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हों, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयों में तत्स्थता—एकाग्रता, तदञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो, चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।[1]

[४२०]

एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम्।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात्॥

यों साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुनः जन्म प्राप्त करता है, जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात् वहाँ पुनः जन्म में लानेवाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। साधक श्रेणि-आरोह करता है—क्षपक-श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि-आरोह के सम्बन्ध में ज्ञाप्य है—

जैन-दर्शन में चवदह गुणस्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास क्रम व्याख्यात हुआ है, उन (गुणस्थानों) में आठवाँ निवृत्तिबादर गुणस्थान है। मोह को ध्वस्त करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलतः इस गुणस्थान में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान से विकास

---

१ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।
—पातञ्जल योगसूत्र १.४१

की दो श्रेणियाँ निःसृत होती हैं—१. उपशम-श्रेणि, २. क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को उपशान्त करता हुआ—दबाता हुआ ग्यारहवें— उपशान्त मोह गुणस्थान में पहुँचता है।

क्षपक-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को क्षीण करता हुआ, दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह-गुणस्थान में पहुँचता है। उसके बाद क्रमशः तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान में पहुँच जीवन का चरम साध्य-मोक्ष पा लेता है।

उपशम-श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध, मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है, क्षय द्वारा नहीं। क्षय सर्वथा नाश या ध्वंस है। उपशम में उन (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलतः मिटता नहीं, केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है। इसे राख से ढकी अग्नि के उदाहरण से समझा जा सकता है। आग पर आई हुई राख की पर्त जब तक विद्यमान रहती है, आग जलाती नहीं। पर्त हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है। वह जलाने लगती है। उपशान्त कषायों की यही स्थिति है। वे पुनः उभर आते हैं। अतः ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए साधक का अन्तर्मुहूर्त के भीतर नीचे के गुणस्थानों में पतन अवश्यम्भावी होता है। साधक को पुनः आत्मपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढ़ना होता है। बढ़ते-बढ़ते जब भी वह क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो पाता है, आगे चलकर अपना साध्य साध लेता है।

[४२१]

असम्प्रज्ञात , एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥

सर्वज्ञत्व, कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधता है, वह पातंजल

योगियों द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। उसमें समग्र बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, आत्मा स्वरूप-परिणत हो जाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि में एक ध्येय या आलम्बन रहता है। वह आलम्बन बीज कहा जाता है। अतएव सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि में आलम्बन नहीं होता। जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने बताया है, वहाँ सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। आलम्बन का अभाव करते-करते वृत्तियों का भी अभाव कर दिया जाता है। यह सर्व-वृत्ति निरोधात्मक तथा सर्वथा स्वरूपाधिष्ठानात्मक है, निर्बीज समाधि है।[1]

[४२२]

धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशत्रुः शिवोदयः।
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः॥

धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशत्रु, शिवोदय, सत्त्वानन्द तथा पर—ये नाम समाधि के ही विशेष स्थितिक्रम के सूचक हैं, जो भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिकों ने अभिहित किये हैं। अर्थ-संगतिपूर्वक प्रस्तुत विषय के साथ इनका समन्वय करना चाहिए।

धर्ममेघ शब्द का विशेष रूप से पातञ्जल योग सूत्र में प्रयोग हुआ है ! वहाँ कहा गया है—

धनी जैसे पूँजी लगाकर उसके ब्याज की चिन्ता में लगा रहता है, उसी तरह जो योगी विवेकज्ञान की महिमा में भी अटका नहीं रहता, उसमें भी जिसे वैराग्य हो जाता है, विवेकख्याति जिसके निरन्तर समुदित रहती है, उसके धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।[2]

योग सूत्र में आगे बताया गया है कि धर्ममेघ समाधि के सधने पर योगी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश

---

१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।
—पातञ्जल योगसूत्र १.५१

२. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।
—पातञ्जल योग सूत्र ४.२९

तथा शुक्ल, कृष्ण एवं मिश्रित ये तीन कर्म-संस्कार सर्वथा उच्छिन्न हो जाते हैं।[1]

धर्ममेघ शब्द बौद्ध परम्परा में भी प्रयुक्त है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा में बुद्धत्वप्राप्ति के सन्दर्भ में विकास की दस भूमियाँ[2] मानी गई है, जिनमें अन्तिम (भूमि) धर्ममेघ है। यह विकास या उन्नति की चरमावस्था है। इसमें बोधिसत्त्व सर्वविध समाधि स्वायत्त कर लेता है। इस भूमि का एक नाम अभिषेक भी है। जैसे कोई नृपति अपने कुमार को यौवराज्य में अभिषिक्त करता है, वैसे ही साधक यहाँ बुद्धत्व में अभिषिक्त हो जाता है। उसका साध्य सिद्ध हो जाता है, प्राप्य प्राप्त हो जाता है। यह साधना के पर्यवसान की स्वर्णिम वेला है।

[४२३]

मण्डूक-भस्म-न्यायेन वृत्तिबीजं महामुनिः।
योग्यतापगमाद् दग्ध्वा ततः कल्याणमश्नुते॥

महान् साधक मण्डूक-भस्म-न्याय[3] से वृत्तियों के बीज को जला देता है। आत्मा की कर्म-बन्ध करने की योग्यता अपगत हो जाती है। वह कल्याण—मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

[४२४]

यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभावनियोगतः।
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग् ज्ञेयो महात्मभिः॥

जब पूर्ववर्णित योग-साधन स्वभावानुगत हो जाते हैं, स्वायत्त हो जाते हैं तो आत्मा की कर्म-बन्ध की योग्यता का अपगम हो जाता है, जो योगी का लक्ष्य है। उद्बुद्धचेता पुरुषों को इसे समझना चाहिए।

---

१. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः। —पातञ्जल योगसूत्र ४.३०

२. मुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधुमती, धर्ममेघ।

—बौद्ध-दर्शन मीमांसा : पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १४०—१४२ (सन् १९५४, चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस—१)

३. इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत 'योग शतक' की ८६ वी गाथा के सन्दर्भ में मण्डूक-भस्म-न्याय' का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सर्वज्ञवाद—

[४२५]

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा केवलचक्षुषा।
अधिकारवशात् कश्चित् देशनायां प्रवर्तते॥

केवली (सर्वज्ञ) केवलज्ञान—सर्वज्ञता-रूपी नेत्र से अतीन्द्रिय—इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्म-देशना में धर्मोपदेश करने मे प्रवृत्त होते है, जिसके लिए वे अधिकृत हैं।

[४२६]

प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः।
अवन्ध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यं नियोगतः॥

उत्कृष्ट पुण्य-प्रभाव के कारण केवली अनेक दिव्य चिन्हों से युक्त होते हैं। अतिशय शोभाशील होते हैं। उनका धर्मोपदेश व्यर्थ नहीं जाता। भव्य प्राणी उससे उपकृत होते हैं।

तीर्थंकरों के निम्नांकित आठ प्रातिहार्य माने जाते हैं—

अशोक वृक्ष, देवों द्वारा आकाश से फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि—देवों द्वारा हर्षातिरेकवश आकाश में किये जाते जयनाद, सिंहासन, छत्र, चँवर, भामण्डल, दुन्दुभि—भेरी या नगाड़ा।[1]

[४२७]

केचित् तु योगिनोऽप्येतदित्थं नेच्छन्ति केवलम्।
अन्ये तु मुक्त्यवस्थायां सहकारिवियोगतः॥

कतिपय (बौद्ध) योगी इस प्रकार की सर्वज्ञता को असम्भव मानते हैं। दूसरे (सांख्य) योगी यों कहते हैं कि मोक्ष में सर्वज्ञत्व सम्भव नहीं है क्योंकि वहाँ अपेक्षित सहकारी कारण नहीं रहता।

[४२८]

चैतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक्।
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु सतः केवलमाश्रिताः॥

---

१. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। वह ज्ञान से पृथक् नहीं है। इसलिए सर्वज्ञता मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में सम्भव है। क्योंकि वह (सर्वज्ञत्व) ज्ञान का विशुद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है, जो आत्मा का स्वभाव है।

यह जैन दार्शनिकों का अभिमत है।

[४२६]

अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः।
नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम्॥

सर्वज्ञता से इन्द्रियातीत पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है, जो प्रमाण-भूत है। अतः धर्म-देशना तथा आगम-संग्रथन का वह आधार है। यदि ऐसा न माना जाए तो धर्मोपदेश एवं आगम का मूल स्रोत ही उच्छिन्न हो जाए। यह विषय अन्यत्र चर्चित है।

[४३०]

तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे संविदस्योपपद्यते।
एषां चानुभवात् सिद्धा प्रतिप्राण्येव देहिनाम्॥

आत्मा को ज्ञानरूप मानने से उसमें संवित्—ज्ञानमयी प्रतीति, चिन्मयता सिद्ध होती है। यह अनुभवसिद्ध है कि प्रत्येक प्राणी को यत् किञ्चित् संवित् प्राप्त है।

[४३१]

अग्नेरुष्णत्वकल्पं तज्ज्ञानमस्य व्यवस्थितम्।
प्रतिबन्धकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते॥

जैसे अग्नि में उष्णता अभिन्न रूप में रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान अभिन्न रूप से व्यवस्थित है—विद्यमान है। प्रतिबन्धक—अवरोध या रुकावट करने वाले कारणों के रहने से वह कार्यकारी नहीं होता।

अग्नि का स्वभाव उष्णता है किन्तु अग्नि पर किसी ऐसी वस्तु का आवरण डाल दिया जाए, जो उष्णता को रोके रहे तो उष्णता अपने स्व-भावानुरूप कार्य-प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान जब ज्ञानावर-

-णीय कर्म से आवृत्त रहता है तो ज्ञेय पदार्थों के जानने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती।

[४३२]

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः॥

प्रतिबन्धक—बाधक का अभाव हो तो ज्ञ—जानने में सक्षम पुरुष ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ को जानने में कैसे असमर्थ रहे? अप्रतिबन्ध—बाधारहित अग्नि जलाने योग्य वस्तु कैसे नहीं जलाए? अर्थात् बाधक हेतु न होने पर अग्नि जिस प्रकार जलाने का कार्य करती है, उसी प्रकार ज्ञाता बाधक न होने पर जानने का कार्य करता है।

[४३३]

न देशविप्रकर्षोऽस्य युज्यते प्रतिबन्धकः।
तथानुभवसिद्धत्वादग्नेरिव सुनीतितः॥

केवलज्ञान या सर्वज्ञता द्वारा जानने के उपक्रम में स्थान आदि का व्यवधान बाधक नहीं होता, जैसे अग्नि की दाहकता में होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि देशकाल आदि बाह्य प्रतिबन्धक हेतु केवलज्ञान की कार्यकारिता या गति को रोक नहीं सकते।

[४३४]

अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो धर्ममात्रत्वदर्शकः।
अदाह्यादहनाद्येवमत एव न बाधकम्॥

यहाँ जो अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है, वह अंशतः व्याप्त है, आंशिक है। वह मात्र धर्म—स्वभाव का दिग्दर्शक है। जैसे अग्नि का धर्म जलाना है, उसी प्रकार ज्ञान का धर्म जानना है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है, जो अग्नि द्वारा जलायी नहीं जा सकतीं, कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण अग्नि जलाने योग्य वस्तुओं को भी जला नहीं सकती। अग्नि का यह अदाहकता, केवलज्ञान के प्रसंग में उसकी अकार्यकारिता स्थापित नहीं करती। क्योंकि यह दृष्टान्त समग्रता लिये हुए नहीं है।

[४३५]

सर्वत्र सर्वसामान्यज्ञानाज्ज्ञेयत्वसिद्धितः ।
तस्याखिलविशेषेषु तदेतन्न्यायसङ्गतम् ॥

सर्वसामान्य ज्ञान से ज्ञेयत्व की सिद्धि होती है। अर्थात् सर्वसामान्य ज्ञान द्वारा सामान्यतः सभी जानने योग्य पदार्थ ज्ञाता की क्षमता के अनुसार जाने जा सकते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट ज्ञानयुक्त आत्मा सभी वस्तुओं की सभी विशेषताओं को जान सकती है।

[४३६]

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।
ज्ञायते स च साक्षात्त्वाद् विना विज्ञायते कथम् ॥

ज्ञेय भाव से—ज्ञेयत्व की अपेक्षा से विशेषों का स्वभाव भी सामान्य जैसा ही है। जब सामान्य प्रत्यक्ष रूप में जाने जाते हैं तो विशेषों का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। अतः ऐसी आत्मा भी होनी चाहिए, जो सर्वज्ञ हो। क्योंकि लोकगत समस्त पदार्थ अपनी विशेषताओं सहित सर्वज्ञ द्वारा ही जाने जा सकते है।

[४३७]

अतोऽयं ज्ञस्वभावत्वात् सर्वज्ञः स्यान्नियोगतः ।
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

ज्ञस्वभावत्व—ज्ञातृस्वभावता के कारण—स्वभावतः ज्ञाता होने के कारण कोई आत्मा निश्चय ही सर्वज्ञाता या सर्वज्ञ हो, यह युक्तियुक्त है। अन्यथा सबको सर्वथा जानने वाला कोई न होने से आत्मा का ज्ञातृत्व समग्रतया सिद्ध नहीं होता। सूक्ष्म बुद्धि से इस पर चिन्तन करें।

[४३८-४४२]

एवं च तत्त्वतोऽसार यदुक्तं मतिशालिना ।
इह व्यतिकरे किञ्चिच्चारुबुद्ध्या सुभाषितम् ॥

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।
आज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपास्महे ॥

बुद्धिशाली अन्य तार्किक ने इस प्रसंग में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा मधुर शब्दों में जो मन्तव्य प्रकट किया है, वास्तव में वह सारहीन है।

वह मन्तव्य इस प्रकार है—

"अज्ञानी पुरुष के उपदेश का अनुसरण कर कहीं विडम्बना में न पड़ जाएँ, धोखा न खाएँ, ऐसी शंका कर समझदार लोग किसी ज्ञानी की खोज करते हैं, जिसके वचनों पर विश्वास किया जा सके।

यों जिस ज्ञानी पुरुष की बात मानने को तैयार हों, उसके ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि वह करणीय अनुष्ठान से सम्बद्ध है या नहीं। उसका ज्ञान तो कीड़ों की संख्या की गणना करने का भी हो सकता है। कीड़ों की संख्या बहुत बड़ी है। उनकी गणना करने का कार्य भी कम भारी नहीं है पर उसका हमारे लिए कहाँ उपयोग है ? हमारे लिए तो वह सर्वथा अनुपयोगी है। हमें उससे क्या लाभ ?

क्या हेय—त्यागने योग्य तथा क्या उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हेय को छोड़ने और उपादेय को अपनाने के क्या उपाय हैं—ऐसा करने का क्या विधिक्रम है—ऐसा जो जानता है, वही हमारे लिए वाञ्छनीय है, उपयोगी है, प्रमाणभूत है। जो और सब कुछ जानता हो, हमें वह इष्ट नहीं है।

जो बहुत दूर की वस्तु को देख पाये या न देख पाए, हमें उससे क्या ? हमें तो उससे प्रयोजन है, जो इष्ट—अभीप्सित, वाञ्छनीय या उपयोगी तत्त्व को देखता है, जानता है। यदि दूरदर्शी—बहुत दूर तक देख सकने वाला ही प्रमाणभूत हो तो अच्छा है, हम गीधों की उपासना—पूजा करें, जिनमें बहुत दूर तक देखने की क्षमता होती है।

उपर्युक्त अभिमत विख्यात बौद्ध तार्किक आचार्य धर्मकीर्ति का है, जिसकी उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में चर्चा की है।

[४४३]

एवमाद्युक्तसन्नीत्या हेयाद्यपि च तत्त्वतः ।
तत्त्वस्यासर्वदर्शी न वेत्यावरणभावतः ॥

उक्त मन्तव्य के समाधान के रूप में ग्रन्थकार का कथन है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में युक्तिपूर्वक समीचीनतया चर्चा की जा चुकी है कि हेय तथा उपादेय के सम्बन्ध में सर्वथा यथावत् रूप में जान पाना वैसे किसी पुरुष के लिए सम्भव नहीं होता, जो सर्वज्ञ नहीं है। क्योंकि वैसे पुरुष के ज्ञान पर कर्मावरण रहता है, जिससे वह (ज्ञान) अप्रतिहतगति नहीं होता। फलतः वह पुरुष वैसा सब जानने में सक्षम नहीं होता, जैसा कि सर्वज्ञ द्वारा सम्भव है।

[४४४]

बुद्ध्यध्यवसितं यस्मादर्थं चेतयते पुमान् ।
इतीष्टं चेतना चेह संवित् सिद्धा जगत्त्रये ॥

बुद्धि अपने द्वारा गृहीत पदार्थ पुरुष (आत्मा) की चेतना में प्रस्थापित करती है, जिससे पुरुष उसे जानता है। पर, यह कैसे सम्भव हो। क्योंकि चेतना ही ज्ञान है, यह तीनों लोकों में सिद्ध है। फिर बुद्धि द्वारा चेतना में रखा जाना, आत्मा द्वारा जाना जाना इत्यादि में समीचीन संगति प्रतीत नहीं होती।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, सांख्य दर्शन के अनुसार अहंकार तथा मनरूप अन्तःकरणयुक्त बुद्धि सब विषयों को ग्रहण करती है। अतः बुद्धि, अहंकार तथा मन करण कहे जाते हैं[1]। विषय-ग्रहण हेतु इन्हें प्रमुख द्वार के रूप में स्वीकार किया गया है। बाकी इन्द्रिय आदि उनके सहयोगी हैं, गौण हैं।

इसका कुछ और स्पष्टीकरण यों है—दीपक की तरह ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अहंकार तथा मन पुरुष के लिए पदार्थों को प्रकाशित कर बुद्धि को देते हैं, बुद्धि में सन्निहित करते हैं। पुरुष द्वारा उनका ग्रहण बुद्धि से

साधित होता है। अर्थात् बुद्धि उन्हें पुरुष तक पहुँचाती है। वही पुरुष और प्रकृति का विषय-विभाग कराती है, उनकी सूक्ष्म भिन्नता सिद्ध करती है।[1]

चेतना तथा संवित् की समानता बताते हुए प्रस्तुत पद्य में इस मन्तव्य का निरसन किया गया है। आगे के पद्यों में विशेष स्पष्टीकरण है।

[४४५]

चैतन्यं च निजं रूपं पुरुषस्योदितं यतः।
अत आवरणाभावे नैतत् स्वफलकृत् कुतः॥

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार चेतना पुरुष या आत्मा का स्वरूप है। जब आवरण—पुरुष के स्वरूप-स्वभाव को आवृत करने वाले उसको रोकने वाले हेतु नहीं हैं तो फिर चेतना अपना कार्य कैसे न करे, समझ में नहीं आता।

[४४६-४४७]

न निमित्तवियोगेन तद्व्यावरणसङ्गतम्।
न च तत्तत्स्वभावत्वात् संवेदनमिदं यतः॥
चैतन्यमेव विज्ञानमिति नास्माकमागमः।
किंतु तन्महतो धर्मः प्राकृतश्च महानपि॥

सांख्य दार्शनिकों का यह तर्क है कि मोक्ष प्राप्त हो जाने पर पुरुष को पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि ज्ञान होने के निमित्त कारण मन का वहाँ अस्तित्व नहीं होता, जो (मन) प्रकृति से उत्पन्न है। मोक्षावस्था में

---

१. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि॥
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम्॥

—सांख्यकारिका ३५-३७

प्रकृति और पुरुष का सर्वथा वियोग हो जाता है। प्रकृति का जब पुरुष से पार्थक्य हो जाता है तो तत्प्रसूत सभी तत्त्व सहज ही पुरुष से पृथक् हो जाते हैं।

जानना आत्मा का स्वभाव है अतः मोक्ष होने पर भी उसे ज्ञान रहता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। हम (सांख्यवादी) चैतन्य—चेतना ही ज्ञान है, ऐसा नहीं मानते। चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न है। चेतना पुरुष का धर्म है तथा ज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न है।

[४४८]

बुद्ध्यध्यवसितस्यैवं कथमर्थस्य चेतनम्।
गीयते तत्र नन्वेतत् स्वयमेव निभाल्यताम्॥

यदि ज्ञान और चेतना भिन्न-भिन्न हैं, तब बुद्धि अपने द्वारा गृहीत जो विषय पुरुष तक पहुँचाती है, उसके सम्बन्ध में आप कैसे कह पायेंगे कि पुरुष चेतना द्वारा ग्रहण कर उसे जानता है। यो कहना सगत नहीं होता। इस पर स्वयं ही विचार करें।

[४४९-४५०]

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिकं यथा॥

विभक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि॥

प्रतिवादी सांख्यों की यह दलील हो सकती है—पुरुष अविकृत—विकाररहित है। जैसे स्फटिक पत्थर का अपना कोई विशेष रंग नहीं होता, जिस रंग की वस्तु उसके समीप आती है, उसकी परछाई द्वारा वह उसी रंग में परिणत दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार अचेतन मन पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। पुरुष में जो विकार दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तविक नहीं है, मन की सन्निधि के कारण है।

स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा जल में समाया हो। उसी प्रकार बुद्धि द्वारा गृहीत विषय

पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है तो बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है, वह मानो पुरुष का ही हो।

[४५१]

स्फटिकस्य तथानामभावे तदुपधेस्तथा।
विकारो नान्यथाऽसौ स्यादन्धाश्मन इव स्फुटम्॥

ग्रन्थकार के अनुसार इसका समाधान यों है—उक्त स्थिति तभी घटित होती है, जब स्फटिक तथा तत्समीपवर्ती किसी रंगीन वस्तु का अपने स्वभावानुरूप परिणत होने का गुण है। यदि ऐसा नहीं हो, स्फटिक के स्थान पर कोई धुंधला, मटमैला पत्थर हो तो यह सम्भव नहीं होता। वैसे ही पुरुष का उस रूप में परिणत होने का स्वभाव है, तभी वैसा होता है, अन्यथा नहीं।

[४५२]

तथा नामैव सिद्धैव विक्रियाऽप्यस्य तत्त्वतः।
चैतन्यविक्रियाऽप्येवमस्तु ज्ञानं च साऽऽत्मनः॥

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि आत्मा में यथार्थत विक्रिया—परिणति या परिणमन भी होता है। इसी प्रकार चेतना में भी परिणमन होता है, जो आत्मा की ज्ञानरूपात्मक अवस्था है।

[४५३]

निमित्ताभावतो नो चेन्निमित्तमखिलं जगत्।
नान्तःकरणमिति चेत् क्षीणदोषस्य तेन किम्॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वहाँ निमित्त का अभाव होता है। ऐसा जो कहते हो, उसका उत्तर यह है कि समस्त जगत् ही तो निमित्त है, जो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहता है। यदि कहो कि वहाँ अन्तःकरण[1] नहीं रहता तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिसके राग, द्वेष आदि समस्त दोष मिट गये है, उसे अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती।

१. बुद्धि, अहंकार तथा मन।

[४५४]

निरावरणमेतद् यद् विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।
न याति यदि तत्त्वेन न निरावरणं भवेत् ॥

यदि चेतना (आत्मा) निरावरण—सर्वथा आवरणरहित है तो फिर वह जगत को आश्रित कर विक्रिया—विकार—परिणमन कैसे प्राप्त करती है ? यदि निरावरण चेतना विकारग्रस्त होती हो तो उसे निरावरण कैसे कहा जाए ?

[४५५]

दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि नेच्छामात्रनिवर्तनात् ।
पुरुषस्यापि युक्तेयं स च चिद्रूप एव वः ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि तब तक तो इच्छा मात्र समाप्त हो जाती है, देखने-जानने की भी इच्छा मिट जाती है, ऐसा जो कहा जाता है, उसका समाधान यह है कि यदि ऐसा हो तो पुरुष (आत्मा) की अपने आपको देखने—जानने की इच्छा भी मिटनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता । शब्द से चाहे उसे इच्छा न कहा जाए, स्वभाव या वर्तन कहा जाए, पर वैसी स्थिति वहाँ विद्यमान रहती है । सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतना के रूप में है और चेतना अपने को जानना कभी बन्द नहीं करती ।

[४५६]

चैतन्यं चेह संशुद्धं स्थितं सर्वस्य वेदकम् ।
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर चैतन्य का विशुद्ध रूप रहता है और वह सभी ज्ञेय पदार्थों को जानता है । सांख्य-शास्त्र में मुक्तावस्था में ज्ञान का जो निषेध किया है, वह साधारण सांसारिक ज्ञान को लेकर किया हुआ होना चाहिए, जिसे अयथार्थ समझा जाता है ।

[४५७]

आत्मदर्शनतश्च स्यान्मुक्तिर्यत् तन्त्रनीतितः ।
तदस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः ॥

शास्त्रों में आये विवेचन से यह प्रकट है कि आत्मदर्शन से मुक्ति होती है। शास्त्रीय युक्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद भी आत्मा ज्ञानयुक्त होती है।

[४५८]

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धमनियोगतः ।
दोषप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा न्याययोगिनः ॥

कतिपय विचारक, जो मुख्यतः तर्क का आधार लिये चलते हैं, ऐसा मानते हैं कि नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ही आध्यात्मिक दोष सर्वथा मिट सकते हैं। अर्थात् समग्र रूप में दोषों के मिटने की जो बात परिकल्पित की जाती है, वह तो तभी सध सकती है, जब दोषों के आधार का ही शाश्वत अस्तित्व न हो। क्योंकि आत्मा, जिसमें दोष टिकते हैं, रहेगी तो यत्किञ्चित ही सही, दोष भी रहेंगे।

[४५९]

समाधिराज एतत् तत् तदेतत् तत्त्वदर्शनम् ।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥

समाधिराज (नामक ग्रन्थ) में उल्लेख है कि नैरात्म्यवाद से यथार्थ तत्त्व-दर्शन प्राप्त होता है, दुराग्रह विच्छिन्न होता है—आग्रहशून्य दृष्टि प्राप्त होती है, जो साधक के लिए दिव्य अमृत है—परम शान्तिप्रद है।

'समाधि' योग का सुप्रचलित शब्द है। यह अष्टांगयोग का आठवाँ—अन्तिम अंग है, जहाँ योग परिपूर्णता पाता है। यही देखकर योगबिन्दु के कुछ टीकाकारों ने समाधिराज का अर्थ 'उत्कृष्टतम समाधि' कर दिया है। यह भ्रान्ति रही है।

दिवंगत विद्वद्रत्न पं० सुखलालजी संघवी ने 'समाधिराज' के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ की हैं। उनके अनुसार यह एक ग्रन्थ का नाम है। 'समाधिराज' नामक ग्रन्थ है भी, जो बहुत प्राचीन है। इसके प्राप्त होने का इतिहास बड़ा रोमांचक है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता कनिष्क के समय जितनी है। भिन्न-भिन्न समयों में चीनी भाषा में इसके तीन रूपान्तर हुए, जो प्राप्त हैं। चौथा रूपान्तर तिब्बती भाषा में हुआ। मूल ग्रन्थ आकार

में छोटा था, पर वह क्रमशः वृद्धि पाता गया। ग्रन्थ का जो तिब्बती रूपान्तर है, वह तो मूल ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्द्धित रूप का भाषान्तर है। अन्तिम परिवर्द्धित रूप वाला 'समाधिराज' नेपाल में मूल रूप में प्राप्त है। समाधिराज की भाषा संस्कृत है, परन्तु वह ललित-विस्तर और महावस्तु की तरह संस्कृत-पालि-मिश्रित है। यह ग्रन्थ भारत में प्राप्त नहीं था, पर गिलगित प्रदेश में एक चरवाहे के लड़के को बकरियाँ चराते समय यह ग्रन्थ मिला। उसके साथ और भी कुछ एक ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने सुन्दर रीति से किया है और उसकी अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका लिखी है। चीन और तिब्बत में पहले से ही ग्रन्थ का जाना, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा, काश्मीर के एक प्रदेश में उसकी प्राप्ति, इसमें सूचित कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्म-संगीतियों का निर्देश, इसकी पालि-संस्कृत-मिश्रित भाषा, इसमें लिया गया शून्यवाद का आशय—ये सब बातें देखते हुए ऐसा लगता है कि यह काश्मीर के किसी भाग में अथवा पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग में रचा गया हो। समाधिराज की प्रतिष्ठा और इसका प्रचार कभी इतना अधिक रहा हो कि उसने हरिभद्र जैसे महान् जैन आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींचा।

[४६०-४६२]

तृष्णा यज्जन्मनो योनिर्ध्रुवा सा चात्मदर्शनात् ।
तदभावाच्च तद्भावस्तत् ततो मुक्तिरित्यपि ॥

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन ।
न चात्मनि विना प्रेम्णा सुखकामोऽभिधावति ॥

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि न वैराग्यस्य संभवः ।
न च रागवतो मुक्तिर्दातव्योऽस्या जलाञ्जलिः ॥

तृष्णा जन्म का निश्चय ही मूल है। वह आत्मदर्शन—आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने से टिकती है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये तो तृष्णा भी नहीं रहेगी। यों तृष्णा के अभाव में मोक्ष—दुःखों का आत्यन्तिक अभाव, दुःखों से छुटकारा प्राप्त होगा।

'मैं हूँ', ऐसा देखना बन्द कर देने पर—आत्मास्तित्वमूलक इस मन्यता का अभाव हो जाने पर कोई अपने में स्नेह—आसक्ति नहीं रखता। जब आत्मा में आसक्तिमूलक प्रेम नहीं होता तो मनुष्य भौतिक सुख की कामना से नहीं भटकता।

यदि आत्मा में प्रेम या आसक्ति स्थिर होगी तो वैराग्य—विरति कभी संभव नहीं होगी। रागयुक्त की कभी मुक्ति नहीं होती। अतः मोक्ष के सिद्धान्त को छोड़ ही देना पड़ेगा।

[४६३]

नैरात्म्यमात्मनोऽभावः क्षणिकोवाऽयमित्यदः।
विचार्यमाणं नो युक्तया द्वयमप्युपपद्यते ॥

उपर्युक्त अभिमत के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है—

नैरात्म्य का अर्थ आत्मा का अभाव अथवा आत्मा की क्षणिक स्थिति है। विचार करने पर ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होतीं।

[४६४]

सर्वथैवात्मनोऽभावे सर्वा चिन्ता निरर्थका।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः ॥

यदि आत्मा का सर्वथा अभाव माना जाए तो सभी चिन्ताएँ— पुण्य, पाप, बन्धन, मुक्ति आदि से सम्बद्ध सब प्रकार के चिन्तन निरर्थक होंगे। नीति या न्यायवेत्ताओं का वचन है कि धर्मी—धर्मवान् या गुणवान का अस्तित्व होने पर ही धर्मों का विचार होता है। अर्थात् धर्मी होगा, तभी धर्म होंगे। धर्मी के अभाव में धर्मों का अस्तित्व ही कहाँ टिकेगा।

[४६५]

नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः।
एकान्ततुच्छतायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः ॥

जब आत्मा का आत्यन्तिक अभाव हो तो नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त की सचाई का कौन अनुभव करे, क्योंकि अनुभव तो आत्मा करती है,

और इस मत के अनुसार उसका अस्तित्व है नहीं। इसी प्रकार कौन इस (नैरात्म्यवाद के) सिद्धान्त का प्रतिपादन करे तथा एकान्ततः साररहित यह विषय किसके समक्ष प्रतिपादित किया जाए, किसे समझाया जाए।

[४६६-४६७]

कुमारीसुतजन्मादिस्वप्नबुद्धिसमोदिता ।
भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्ननु सा धर्म एव हि ॥
कुमार्या भाव एवेह यदेतदुपपद्यते ।
वन्ध्यापुत्रस्य लोकेऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥

स्वप्न में कुमारिका को पुत्र-जन्म की अनुभूति एक भ्रान्ति है, उसी प्रकार यह (नैरात्म्यवादी सिद्धान्त) एक भ्रान्ति है, ऐसा कहा जाता है। इसमें भी थोड़े संशोधन की गुंजाइश है। भ्रान्ति मिथ्यामूलक ही सही, एक धर्म या विषय तो है, जिसका आधार या धर्मी कुमारिका अस्तित्व लिए है। इसके स्थान पर यदि वन्ध्यापुत्र को स्वप्न आने की बात कही जाए तो वह सर्वथा असंभव होगी। क्योंकि वन्ध्या-पुत्र का कहीं अस्तित्व ही नहीं होता। यह उदाहरण नैरात्म्यवाद के साथ सर्वथा संगत है। नैरात्म्य-वाद वन्ध्या-पुत्र की तरह सर्वथा निराधार एवं अस्तित्व शून्य है।

[४६८]

क्षणिकत्वं तु नैवास्य क्षणादूर्ध्वं विनाशतः ।
अन्यस्याभावतोऽसिद्धेरन्यथान्वयभावतः ॥

आत्मा का क्षणिकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक या क्षणवर्ती आत्मा अपने उद्भव के क्षण के नष्ट होते ही नष्ट हो जाती है। यों जो आत्मा नष्ट हो गई हो, उससे दूसरी का उद्भव नहीं हो सकता। वैसा होने के लिए आगामी क्षण में भी उसकी विद्यमानता माननी होगी। दूसरे प्रकार से यदि यों माना जाए कि अगले क्षण सर्वथा अन्य—पूर्ववर्ती आत्मा से बिल्कुल असम्बद्ध आत्मा उद्भूत होती है, तब फिर पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती आत्मा में अन्वय-संगति घटित नहीं होती। प्रत्येक सन्दर्भ में दोनों की असम्बद्धता सिद्ध होती है, जो वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है।

[४६९]

भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः।
स चानन्तरभावित्वे हेतोरस्यानिवारितः॥

पदार्थों में भावों या पर्यायों की अविच्छिन्नता—पर्याय-शृंखलाबद्धता उनकी अन्वय-संगति का हेतु है। उसी के द्वारा पदार्थों के पूर्व-भाव तथा उत्तर-भाव की पारस्परिक सम्बद्धता संयोजित एवं सुस्थिर रहती है।

[४७०]

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः।
अन्यजनमस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसंगता॥

यदि कोई पदार्थ उत्पन्न होकर मिट जाने का स्वभाव लिए हुए हो अर्थात् पहले क्षण उत्पन्न हुआ, अगले क्षण नष्ट हुआ, यदि ऐसा हो तो वह अगले क्षण दूसरा पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि वह अन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव लिये हुए माना जाए तो उसकी निवृत्ति—नाश असंगत ठहरता है। जो स्वयं उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाए, वह अन्य को कैसे उत्पन्न करे।

[४७१]

इत्थं द्वयैकभावत्वे न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि।
व्यावृत्त्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम्॥

यदि एक पदार्थ में दोनों भाव—पूर्व पर्याय की व्यावृत्ति—व्यपगम या विनाश तथा दूसरे पर्याय का उत्पाद स्वीकार किया जाए तो अन्वय-संगति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इस पर चिन्तन करें।

[४७२]

अन्वयोऽप्यस्य न आत्मा चित्रभावो यतो मतः।
न पुनर्नित्य एवेति ततो दोषो न कश्चन॥

आत्मा एकान्त रूप में नित्य नहीं है। मूल रूप में नित्य होने के बावजूद उसमें चित्र-भाव पर्यायों की दृष्टि से विविधता—विभिन्न रूपात्मकता है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता। ऐसा हमारा दृष्टिकोण है।

[४७३]

न चात्मदर्शनादेव स्नेहो यत् कर्महेतुकः ।
नैरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात् ।।

आत्मा के दर्शन से आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने से स्नेह—आसक्ति उत्पन्न होती है, ऐसा कहना संगत नहीं है। आसक्ति तो कर्म-जनित है।

नैरात्म्यवादी दर्शन में जहाँ आत्मा को क्षणिक माना जाता है, वहाँ उस क्षण में ज्ञान द्वारा आत्म-दर्शन या आत्म-स्वीकार अपने आपका स्वीकार तो होता ही है। यदि यही आसक्ति का कारण हो तो नैरात्म्यवादी के लिए भी वैसा ही होगा। वह आसक्तिग्रस्त बनेगा। वास्तव में आत्म-दर्शन से आसक्ति होने का खतरा बताकर आत्मा की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता स्वीकार न करना समुचित नहीं है।

[४७४]

अध्रुवेक्षणतो नो चेत् कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे।
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवृत्तितः ।।

अध्रुवेक्षण—क्षणवादी दर्शन से—आत्मा को क्षणिक मानने से आसक्ति नहीं होती, यों मानते हो तो ध्रुवेक्षण—शाश्वत आत्मवादी दर्शन ने क्या अपराध किया है, उसके सन्दर्भ में भी कुछ चिन्तन करो। आत्मवाद के स्वीकार से काल-चिन्ता—भविष्य में आसक्ति होने का जो भय देखते हो, वैसा कुछ नहीं है। ज्योंही कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, आसक्ति, स्नेह, ममता—सब मिट जाते हैं।

[४७५]

उपप्लववशात् प्रेम सर्वत्रैवोपजायते ।
निवृत्ते तु न तत् तस्मिन् ज्ञाने ग्राह्यादिरूपवत् ।।

सर्वत्र उपप्लव—मोह, माया आदि के कारण प्रेम उत्पन्न होता है। जब मोह नहीं रहता, माया नहीं रहती तो प्रेम या आसक्ति नहीं होती।

संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं। ग्राह्य पदार्थ ज्ञान में विप्रतिपत्ति पैदा नहीं करते। आत्मा आसक्तिग्रस्त नहीं होती।

[४७६]

स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो यतो मुख्यस्य युज्यते।
ततो वैराग्यसंसिद्धेर्मुक्तिरस्य नियोगतः ॥

प्रेम, जिसे बन्धन का मुख्य हेतु माना जाता है, अपने आप में स्थिर नहीं है। वह तो जैसा कहा गया है, मोह आदि से जनित है। उनके मिट जाने पर वैराग्य—रागातीत या अनासक्त भाव उत्पन्न हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त होती है।

[४७७]

बोधमात्रेऽद्वये सत्ये कल्पिते सति कर्मणि।
कथं सदाऽस्याभावादि नेति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥

बोध को ही एकमात्र सत्य—तत्त्वरूप में स्वीकार किया जाए तो कर्म कल्पित—अयथार्थ सिद्ध होता है। वैसा होने पर वैराग्यादि से प्रतिफलित मुक्ति, शुभ, अशुभ, क्रिया से प्रतिफलित सुख-दुःख आदि या तो सदा प्राप्त रहें या अप्राप्त रहें। क्योंकि जब कर्म है ही नहीं, मात्र ज्ञान है तो उस (ज्ञान) की अनुकूल प्रतिकूल स्थिति के अनुरूप सब होगा। पर, इस जगत् में वस्तुस्थिति वैसी है नहीं। इस पर सम्यक् रूप में विचार करें।

[४७८]

एवमेकान्तनित्योऽपि हन्तात्मा नोपपद्यते।
स्थिरस्वभाव एकान्ताद् यतो नित्योऽभिधीयते ॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। एकान्त-नित्य का तात्पर्य आत्मा का स्थिर—अपरिवर्तनशील, अपरिणमनशील स्वभाव-युक्त होना है।

[४७९]

तदयं कर्तृभावः स्याद् भोक्तृभावोऽथवा भवेत्।
उभयानुभयभावो वा सर्वथाऽपि न युज्यते ॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानने से उसमें या तो एकान्ततः कर्तृभाव होगा या भोक्तृभाव होगा। अर्थात् वैसी स्थिति में आत्मा या तो एकान्त-रूपेण कर्त्ता होगी या भोक्ता। कर्तृत्व, भोक्तृत्व—दोनों भाव उसमें एक साथ घटित नहीं होंगे।

[४८०]

एकान्तकर्तृभावत्वे कथं भोक्तृत्वसंभवः ।
भोक्तृभावनियोगेऽपि कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥

एकान्त रूप में कर्तृ-भाव होने से भोक्तृ-भाव सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार एकान्ततः भोक्तृ-भाव होने पर कर्तृ-भाव का होना कठिन है—कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

[४८१]

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति कृतं वाऽभोगमित्यपि ।
उभयानुभयभावत्वे विरोधासंभवौ ध्रुवौ ॥

अकृत—नहीं किये हुए का भोग नहीं होता—जो किया ही नहीं गया है, उसे भोगना कैसे सम्भव हो। कृत—किये हुए का अभोग नहीं होता—जो किया गया है, उसको भोगना ही होगा। वह अभुक्त कैसे रहेगा? यदि आत्मा में उभय—कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—दोनों ही स्थितियाँ मानी जायें तो सिद्धान्त में विरोध आयेगा। उसका यों मानना उसके कथन के विरुद्ध होगा। यदि आत्मा में अनुभय—दोनों ही स्थितियाँ न मानी जायें तो यह एक असम्भव बात होगी।

[४८२]

यत्तयोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते ।
परिणामित्वसंगत्या न त्वागोऽत्रापरोऽपि वः ॥

आत्मा का उभय भावत्व—आत्मा कर्त्ता है, भोक्ता है—यों उसके दोनों स्वरूपों का स्वीकार प्रतिवादी के विरुद्ध जाता है, जो उसे एकान्त-नित्य मानता है। अतएव आत्मा का परिणामित्व—परिणमनशीलता मानना संगत है। ऐसा मानने से कहीं कोई दोष नहीं आता।

[४८३]

एकान्तनित्यतायां तु तत्तथैकत्वभावतः ।
भवापवर्गभेदोऽपि न मुख्य उपपद्यते ॥

आत्मा की एकान्त-नित्यता मान लेने पर वह सर्वथा एक ही भाव में अवस्थित रहेगी। वैसी स्थिति में संसार और मोक्ष—आत्मा की संसारावस्था तथा मुक्तावस्था के रूप में कोई भेद घटित नहीं होता, जो वस्तुतः मुख्य भेद है।

[४८४]

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तैव परिणामिता।
तथाऽनुपगमे त्वस्य रूपमेकं सदैव हि ॥

अपेक्षा-भेद से आत्मा अपने स्वभाव का (अंशतः) परित्याग कर दूसरे स्वभाव को ग्रहण करती है। अथवा जब आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है तो संसारावस्था रूप स्वभाव का परित्याग होता है, तत्प्रतिकूल शुद्धयात्मक स्वभाव का अधिगम होता है। इससे आत्मा की परिणामिता—परिणमनशीलता स्पष्ट है। यदि आत्मा परिणमनशील न हो तो सदा उसका एक ही रूप रहे।

यहाँ स्वभाव शब्द आत्मा के पर्यायात्मक स्वरूप के अर्थ में प्रयुक्त है, जो परिवर्तनशील है।

[४८५]

तत् पुनर्भाविकं वा स्यादापवर्गिकमेव वा।
आकालमेकमेतद्धि भवमुक्तो न सङ्गते ॥

उपर्युक्त रूप में यदि यह स्वीकार किया जाये कि आत्मा सदा एक ही रूप में रहती है तो उसका प्रतिफल यह होगा कि या तो वह सदा सांसारिक रूप में रहेगी या मोक्षावस्था में रहेगी। संसारावस्था में आना या उससे छूटना—ये दोनों ही बातें वहाँ घटित नहीं होतीं। क्योंकि यदि वह संसार में है तो सदा से है, सदा रहेगी। यदि वह मोक्ष में है तो वहाँ भी वैसी ही स्थिति होगी।

[४८६]

बन्धाच्च भवसंसिद्धिः सम्बन्धश्चित्रकार्यतः ।
तस्यैकान्तैकभावत्वे न त्वेषोऽप्यनिबन्धनः ॥

कर्म-बन्ध से संसारावस्था प्राप्त होती है। कर्म-बन्ध विविध प्रवृत्तियों के कारण होता है, जिसका प्रतिफल आत्मा के सांसारिक अस्तित्व की भिन्न-भिन्न दशाओं तथा अनुभूतियों में प्राप्य है। यदि आत्मा में एकान्त रूप में एकभावत्व—एकभावात्मकता—अपरिवर्तनशीलता मानी जाये तो सांसारिक रूपों, अनुभवों आदि की भिन्नता का फिर कोई कारण उपलब्ध नहीं होगा। कारण के बिना कार्य हो, यह असम्भव है।

[४८७]

नृपस्येवाभिधानाद् यः सातावन्धः प्रकीर्त्यते ।
अहिशङ्काविषज्ञाताच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥

किसी को केवल नाम से राजा होने के कारण राजोचित सुख नहीं मिल सकते। इसी प्रकार किसी को साँप काट गया हो, मात्र ऐसी शंका से उसके विष नहीं चढ़ जाता। ये मिथ्या कल्पनाएँ हैं। ऐसी ही स्थिति आत्मा के एकान्त-नित्यत्व - सिद्धान्त की है। कहने भर को कोई चाहे वैसा कहे पर वास्तव में वैसा होता नहीं।

[४८८]

एवं च योगमार्गोऽपि मुक्तये यः प्रकल्प्यते ।
सोऽपि निर्विषयत्वेन कल्पनामात्रभद्रकः ॥

यदि एकान्त-नित्यत्व का सिद्धान्त मान लिया जाए तो मुक्ति के लिए जो योग-मार्ग बताया जाता है, उसका फिर कोई लक्ष्य नहीं रह जायेगा। वह केवल कहने भर के लिए सुन्दर होगा।

[४८९]

दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि पूर्वसूपुदितं तथा ।
आत्मनोऽपरिणामित्वे सर्वमेतदपार्थकम् ॥

पुरुष की दिदृक्षा—देखने की इच्छा की निवृत्ति हेतु प्रकृति सृष्टि-

क्रम में प्रवृत्त होती है, ऐसा सांख्य - योग के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है।

यह भी पुरुष (आत्मा) के अपरिणामी होने पर निरर्थक सिद्ध होता है।

जैसाकि सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उल्लेख किया है, सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शन में माना गया है कि पुरुष के दर्शनार्थ, पुरुष—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच महाभूत—इन सबको देखे, इस हेतु तथा पुरुष के कैवल्य—मोक्ष हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।[1]

इसका अभिप्राय यह है—यों पुरुष की दिदृक्षा निवृत्त होगी, अपने स्वरूप का उसे भान होगा। (पच्चीस) तत्वों का सम्यक् ज्ञान कर वह मुक्त हो जायेगा।[2]

महर्षि पतंजलि ने भी इसी आशय की ओर संकेत किया है कि द्रष्टा (पुरुष या आत्मा) को दर्शन में प्रवृत्त करने हेतु, उसका अपवर्ग—मोक्ष साधने हेतु दृश्य—प्रकृति आदि का प्रयोजन है।[3]

इन सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार का प्रतिपादन है कि पुरुष यदि अपरिणामी है तो यह सब असिद्ध होता है। पुरुष के परिणमनशील होने पर ही ऐसा संभाव्य है।

[४६०]

परिणामिन्यतो नीत्या चित्रभावे तथाऽऽत्मनि।
अवस्थाभेदसंगत्या योगमार्गस्य संभवः॥

आत्मा परिणामी तथा विविध भावापन्न है, यह न्याय-संगत है। ऐसा होने से ही उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ संगत ठहरती हैं। तभी योग-मार्ग की संभावना घटित होती है।

---

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ —सांख्यकारिका २१

२. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥—सांख्यकारिका १ गौडपादभाष्य

३. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। —पातञ्जल योग सूत्र २.२१

[४६१]

तत्स्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि ।
क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात् परिणामो भवावहः ॥

आत्मा का ऐसा अपना स्वभाव है, अतएव उसकी परिणमनशीलता तात्त्विक—वास्तविक है। अन्य—विजातीय पदार्थों के संयोग से आत्मा क्लेशमय संसारावस्था में परिणत होती है।

अविद्या—अज्ञान, अस्मिता—मोह, राग—महामोह, द्वेष—द्विष्ट-भाव एवं अभिनिवेश—सांसारिक विषयासक्ति तथा मृत्यु द्वारा सांसारिक विषयों के वियोग की भीति—योग में ये पाँच क्लेश कहे गये हैं।

[४६२]

स योगाभ्यासजेयो यत्तत्क्षयोपशमादितः ।
योगोऽपि मुख्य एवेह शुद्ध्यवस्थास्वलक्षणः ॥

योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामों का उपशम एवं क्षय होता है। आत्मशुद्धि की अवस्था योग का लक्षण है—योग से आत्म-शुद्धि अधिगत होती है।

[४६३]

ततस्तया तु साध्वेव तदवस्थान्तरं परम् ।
तदेव तात्त्विकी मुक्तिः स्यात् तदन्यवियोगतः ॥

योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुई परं साधु—परम उत्तम—अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्त्वतः वही मुक्ति है। क्योंकि तदन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व कर्म आदि से उसका वियोग हो जाता है—बन्धन से छुटकारा हो जाता है।

[४६४]

अत एव च निर्दिष्टं नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः ।
वियोगोऽविद्यया बुद्धिः कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥

यही कारण है, तत्त्ववेत्ताओं ने अविद्या से वियोग, बुद्धि (बोध) तथा सर्वकर्मक्षय आदि विशेषतामूलक नामों से इसे अभिहित किया है।

ये संज्ञाएँ क्रमशः वेदान्त, बौद्ध तथा जैन दर्शन से सम्बद्ध हैं।

[४६५]

शैलेशीसंज्ञिताच्चेह समाधेरुपजायते ।
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥

विकास के पथ पर आगे बढ़ती हुई आत्मा अन्ततः शैलेशी समाधि—पर्वतराज मेरु के सदृश अडोल, अप्रकम्प, स्वनिष्ठ एवं सुस्थिर अवस्था प्राप्त कर लेती है। समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं। उसे वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[४६६]

तथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेव उदाहृतः ॥

कर्म-पार्थक्य साधने, शुद्धावस्था प्राप्त करने, आत्मस्थ होने का क्रम समाधि—आत्मलीनता है। परिपक्वावस्था पा लेने पर—सर्वकर्मनिवृत्ति-रूप परम शुद्धावस्था निष्पन्न हो जाने पर उसे योगवेत्ताओं ने मुक्ति कहा है।

[४६७]

संयोगयोग्यताभावो यदिहात्मतदन्ययोः ।
कुतो न जातु संयोगो भूयो नैवं भवस्ततः ॥

यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा के कर्म के साथ संयोग की—कर्म बाँधने की योग्यता का अभाव हो जाता है। फिर आत्मा का कर्मों के साथ संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए उसे पुनः कभी संसार में—जन्म-मरण के चक्र में आना नहीं पड़ता।

[४६८]

योग्यताऽऽत्मस्वभावस्तत् कथमस्या निवर्तनम् ।
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥

योग्यता जब आत्मा का स्वभाव है, तब उसकी निवृत्ति कैसे सम्भव है?

इसका उत्तर है—प्रस्तुत योग्यता का निवर्तन—अपगम करना भी आत्मा का स्वभाव है, जिसके कारण योग्यता निवृत्त हो जाती है।

थोड़ा और प्रकाश इसी विषय पर डाला जा रहा है।

परिणामित्व

[४९९-५००]

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते ।
अस्त्वेवमपि नो दोषः कश्चिदत्र विभाव्यते ॥

परिणामित्व एवैतत् सम्यगस्योपपद्यते ।
आत्माभावेऽन्यथा तु स्यात्सत्तस्तेत्यदश्च न ॥

एक ओर कर्म बांधने की योग्यता आत्मा का स्वभाव है, दूसरी ओर उस योग्यता का निवर्तन भी उसका स्वभाव है। प्रश्न उपस्थित होता है, योग्यता का निवर्तन क्या स्वनिवृत्ति—अपने स्वभाव का—स्वरूप का निवर्तन नहीं है ?

इसका उत्तर है, किसी अपेक्षा से वैसा हो, उसमें कोई दोष नहीं आता।

आत्मा के परिणमनशील स्वभाव के कारण वह उपयुक्त ही है। आत्मा का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्ता रूप में वह सदा सुस्थिर है। पर एक अवस्था छोड़ना, दूसरी में जाना, ऐसा तो उसके होता ही है। जब एक अवस्था छोड़ी जाती है तो आत्मा के उस अवस्थावर्ती भाव का अपगम होता है। वह अपगम आत्मा के ध्रुव अस्तित्व का अभाव नहीं है।

[५०१]

स्वभावविनिवृत्तिश्च स्थितस्यापीह दृश्यते ।
घटादेर्नवतात्यागे तथा तद्भावसिद्धितः ॥

जो वस्तु स्थित है—स्थिरतया विद्यमान है, उसमें स्वभाव-विशेष का परित्याग दिखाई देता ही है। जैसे घट आदि पदार्थ नवीनता को छोड़ते हैं—अपने नवीन भाव का व्यतीत होते समय के साथ परित्याग करते हैं, दूसरे भाव को स्वीकार करते हैं पर उनका मूल भाव—मौलिक अस्तित्व विद्यमान रहता है।

[५०२]

नवताया न चात्यागस्तया नातत्स्वभावता ।
घटादेर्न न तद्भाव इत्यत्रानुभवः प्रमा ॥

घड़ा अपनी नवीनता नहीं त्यागता हो, ऐसा नहीं है । नवीनता उसका स्वभाव नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । नवीनता छोड़ने पर घड़ा घड़ा नहीं रहता, उसका अस्तित्व मिट जाता हो, ऐसा भी नहीं है अर्थात् नवीनता घड़े का स्वभाव-विशेष है, जिसका वह परित्याग करता है, फिर भी घड़ा रहता है । प्रत्यक्ष अनुभव से यह ज्ञान होता ही है—यह साक्षात् अनुभव-सिद्ध है ।

[५०३]

योग्यतापगमेऽप्येवमस्य भावो व्यवस्थितः ।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः स्तिमितोदधिसन्निभः ॥

कर्म-सम्बद्ध होने की अपनी योग्यता का त्याग कर देने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, जो उत्सुकता, आकांक्षा, चिन्ता आदि से रहित, समुद्र की तरह शान्त एवं सुस्थिर बना रहता है ।

[५०४]

एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥

कर्म-बद्ध होने की योग्यता का परित्याग कर देने पर—कर्म-बन्ध का क्रम अवरुद्ध हो जाने पर आत्मा, जिसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप क्लेश क्षीण हो गये हों, जो कृतकृत्य हो, जो करने योग्य था, उसे जो कर चुका हो, विघ्न-बाधाओं से रहित हो, शाश्वत आनन्द से युक्त हो, मोक्ष में संस्थित हो जाती है--मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है ।

[५०५]

अस्यायाच्योऽयमानन्दः कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।
अयोगी न विजानाति सम्यग् जात्यन्धवद् घटम् ॥

मुक्तात्मा द्वारा जो आनन्दानुभव किया जाता है, वह अवाच्य—अनिर्वचनीय—वाणी द्वारा न कहे जा सकने योग्य है। जैसे एक कुमारिका स्त्री-सुख नहीं जानती, एक जन्मान्ध पुरुष घट (आदि) को भलीभाँति नहीं जानता, उसी प्रकार अयोगी—योगसाधनाशून्य पुरुष मुक्ति का आनन्द नहीं जानता।

[५०६]

योगस्यैतत् फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।
आत्यन्तिकं परं ब्रह्म योगविद्भिरुदाहृतम् ॥

योग का मुख्य—वास्तविक फल परं ब्रह्म प्राप्ति या मुक्तावस्थारूप आनन्द है, जो ऐकान्तिक—निश्चित रूप में अवश्य टिकने वाला, आत्यन्तिक—नित्य टिकने वाला, अनुत्तर—जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं—सर्वोत्तम होता है। योगवेत्ताओं ने ऐसा बतलाया है।

[५०७]

सद्गोचरादिसंशुद्धिरेषाऽऽलोच्येह धीधनैः ।
साध्वी चेत् प्रतिपत्तव्या विद्वत्ताफलकाङ्क्षिभिः ॥

प्रज्ञा ही जिनकी संपत्ति है, जो अपनी विद्वत्ता का यथार्थ फल चाहते हैं, ऐसे सुयोग्य पुरुषों को योग द्वारा साध्य लक्ष्य-शुद्धि—शुद्धिपूर्वक लक्ष्य-प्राप्ति के सन्दर्भ में, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में व्याख्यात है, आलोचन—चिन्तन-विमर्श करना चाहिए। उन्हें समीचीन प्रतीत हो तो उसे अपनाना चाहिए।

[५०८]

विद्वत्तायाः फलं नान्यत् सद्योगाभ्यासतः परम् ।
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥

उत्तम योग का अभ्यास ही विद्वत्ता का महान् फल है, दूसरा नहीं। यदि ऐसा नहीं हो तो निर्मलचेता सत्पुरुषों के कथनानुसार शास्त्र संसार है।

[५०९]

पुत्रदारादिसंसारः पुंसां संमूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंसारः सद्योगरहितात्मनाम् ॥

माया-मोह से विभ्रान्तचेता पुरुषों के लिए पुत्र, स्त्री आदि का संसार है और उन विद्वानों के लिए, जो योगसाधना-रहित है, शास्त्र संसार है।

[५१०]

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रायेणोक्तं तु वाञ्छितम् ।
अनेनैवानुसारेण विज्ञेयं शेषमन्यतः ॥

अब विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है। जो वाञ्छित—अभीष्ट था—कहना चाहते थे, प्रायः कह दिया है। इसी के अनुसार, अन्यान्य स्रोतों से और जानना चाहिए, समझना चाहिए।

[५११]

एवं तु मूलशुद्ध्येह योगभेदोपवर्णनम् ।
चारुमात्रादिसत्पुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥

मूल शुद्धि के आधार पर योग के भिन्न-भिन्न भेदों का यहाँ उत्तम माता-पिता के श्रेष्ठ पुत्र की विशेषताओं का ज्यों विवेचन किया गया है।

[५१२]

अन्यद् वान्ध्येयभेदोपवर्णनाकल्पमित्यतः ।
न मूलशुद्ध्यभावेन भेदसाम्येऽपि वाचिके ॥

अन्य परम्पराओं में भी योग के ऐसे भेद व्याख्यात हुए हैं, पर वहाँ मूल शुद्धि का अभाव है अतः शाब्दिक दृष्टि से वे हमारे सदृश होते हुए भी वन्ध्या-पुत्र की विशेषताओं के वर्णन की तरह कल्पना-मात्र— निःसार हैं।

वन्ध्या के पुत्र होता ही नहीं, फिर उस (पुत्र) की विशेषताओं की बात ही कहाँ फलित हो। इसी प्रकार जहाँ मूलतः ही शुद्धि नहीं है, वहाँ योग कैसे सधे, फिर उसके भेदों की विवेचना का प्रश्न ही कहाँ?

[५१३]

यथेह पुरुषाद्वैते बद्धमुक्ताविशेषतः ।
तदन्याभावनादेव तद् द्वैतेऽपि निरूप्यताम् ॥

अद्वैतवादी दर्शन में केवल 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के अनुसार केवल

एक ही आत्मा का स्वीकार है। वहाँ कर्मबद्ध आत्मा तथा कर्ममुक्त आत्मा —ऐसा भेद घटित नहीं होता। यदि बद्ध, मुक्त का भेद किया जाये तो अद्वैत खण्डित होता है, वह द्वैत बन जाता है।

यह सिद्धान्त संगत नहीं है। द्वैतवादी सिद्धान्त में भी इसी प्रकार अपनी कोटि की असंगति है।

[५१४]

अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः ।
निरंश एक इत्युक्तः स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥

अद्वैतवादी सिद्धान्त में ऐसा नहीं माना जाता कि एक ही आत्मा में अंश रूप में अनेक भाग हैं। यदि ऐसा माना जाये तो मात्र एक ही आत्मा या केवलाद्वैत की वास्तविकता नहीं ठहरती। सिद्धान्ततः आत्मा निरंश या अखण्ड है। यह निरंशता या अखण्डता ही अद्वैतवाद का आधार है।

[५१५]

मुक्तांशत्वे विकारित्वमंशानां नोपपद्यते ।
तेषां चेहाविकारित्वे सन्नोत्या मुक्तांशिनः ॥

यदि ऐसा माना जाये कि भिन्न-भिन्न आत्माएँ मुक्तात्मा—परमात्मा की अंश रूप है तो उनमें विकार संगत नहीं होता। मुक्तात्मा अविकारी है। अविकारी के अंश अविकारी ही होते हैं, विकारी नहीं। यदि कहा जाये कि वे अंशरूप आत्माएँ अविकारी हैं तो तर्क-युक्ति पूर्वक यह सिद्ध करना होगा कि आत्मा की मुक्ति व्यष्टिरूप अंशों से निष्पन्न समष्टि रूप में होती है।

[५१६]

समुद्रोर्मिसमत्वं च यदंशानां प्रकल्प्यते ।
न हि तद्धर्मवैकाभावे सम्यग् युक्त्योपपद्यते ॥

परमात्मा के अंशरूप में अभिमत आत्माएँ एक ही समुद्र में उठती विभिन्न लहरों के समान हैं, उपमा द्वारा ऐसा जो विवेचन किया जाता है, तद्गत तथ्य भी संगत नहीं है। जैसे समुद्र लहरों से विभक्त या प्रभावित प्रतीत होता है, वैसे परमात्मा इन आत्माओं से विभक्त या प्रभावित नहीं होता।

[५१७]

सद्याद्यमत्र हेतुः स्यात् तात्त्विके भेद एव हि ।
प्रागभावादिसंसिद्धेर्न सर्वथाऽन्यथा त्रयम् ॥

आद्य—निर्विकार—शुद्ध सत्, अंश तथा भेदक—ये तीन तत्त्वतः जहाँ विद्यमान रहते हैं, वहाँ प्रागभाव[1] आदि की सिद्धि होती है। वस्तु के भावत्व की सिद्धि इन अभावों के होने, न होने के चिन्तन पर आधृत है।

[५१८]

सत्त्वाद्यभेद एकान्ताद् यदि तद्भेददर्शनम् ।
भिन्नार्थमसदेवेति तद्वदद्वैतदर्शनम् ॥

यदि सत्त्व—अस्तित्व, सत्ता आदि एकान्त रूप में अभिन्न हो अर्थात् जिस वस्तु का जैसा अस्तित्व है, वह सदा एकान्ततः उसी रूप में रहे तो जगत् में जो भिन्न-भिन्न पदार्थ, प्रयोजन तथा उद्देश्य-गत भेद दिखाई देते हैं, वे असत्—अयथार्थ, कल्पित या मिथ्या हैं, उसी प्रकार अद्वैत दर्शन भी। क्योंकि वह भी आत्मैक्य की ऐकान्तिक मान्यता पर अवस्थित है।

[५१९]

यदा नार्थान्तरं तत्त्वं विद्यते किञ्चिदात्मनम् ।
मालिन्यकारि तत्त्वेन न तदा बन्धसंभवः ॥

यदि अर्थान्तर—कोई विजातीय पदार्थ आत्मा को मलिन—कलुषित बनाने वाला नहीं है तो आत्मा के बद्ध होने की—बन्ध में आने की सम्भावना नहीं रहती।

[५२०]

असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिर्बन्धाभावनिबन्धना ।
मुक्तमुक्तिर्न यन्न्याय्या भावेऽस्यातिप्रसङ्गिता ॥

बन्धन के न होने पर मुक्ति कहाँ से होगी। वह तो बन्धन के अपगत होने या मिटने पर होती है। जब बन्धन है ही नहीं, तब अपगत होने या

---

१. अभाव न्यायदर्शन द्वारा स्वीकृत सात पदार्थों में एक है। उसके चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव।

—तर्क भाषा पृष्ठ २२१-२२४ (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१)

मिटने का प्रसंग नहीं होता। जो मुक्त हैं, उनका पुनः मुक्त होना न्यायसंगत नहीं है। वैसा न मानना अर्थात् मुक्त की पुनः मुक्ति मानना अप्रासंगिक है, तत्त्व-व्यवस्था में बाधक है।

[५२१]

कल्पितादन्यतो बन्धो न जातु स्यादकल्पितः ।
कल्पितश्चेत् ततश्चिन्त्यो ननु मुक्तिरकल्पिता ॥

किसी अन्य कल्पित—कल्पनाप्रसूत—अयथार्थ हेतु से अकल्पित—यथार्थ बन्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाए कि बन्ध भी कल्पित ही है तो यह चिन्त्य—दोषपूर्ण है, बाधित है, क्योंकि जब मुक्ति निश्चित रूप से अकल्पित है तो बन्ध भी अकल्पित ही होगा। बन्ध से छूटना ही तो मुक्ति है। वह अकल्पित होगा तभी उससे छुटकारा सम्भव होगा। कल्पित से, जिसकी कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, कैसा छुटकारा !

[५२२-५२३]

नान्यतोऽपि तथाभावादृते तेषां भवादिकम् ।
ततः किं केवलानां तु ननु हेतुसमत्वतः ॥
मुक्तस्येव तथाभावकल्पना यन्निरर्थका ।
स्यादस्यां प्रभवन्त्यां तु बीजादेवाङ्कुरोदयः ॥

अन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व—कर्म अपना सांसारिक अस्तित्व लिए हुए है। फलतः वह तद्गत परिणमन से संपृक्त है। यदि आत्मा में तत्सम्बद्ध भावों में परिणत होने की योग्यता न मानी जाये तो भिन्न-भिन्न संसारावस्थाओं का अनुभव करना उसके लिए सम्भव नहीं होता।

यदि कहा जाये कि विजातीय तत्त्व की सम्बद्धता के बिना ही आत्मा की ऐसी योग्यता है तो इसका उत्तर यों है—विजातीय तत्त्व (कार्य) के सम्बन्ध के बिना आत्मा में ऐसी योग्यता स्वीकार करना संगत नहीं होता। उदाहरणार्थ—जैसे मुक्तात्मा में संसारावस्था में आने की योग्यता नहीं मानी जाती; जिसका कारण उसका कर्मों से असम्बद्ध होना है। इसका फलित यह हुआ, ऐसी योग्यता, अयोग्यता का आधार कर्मों से सम्बद्धता या असम्बद्धता है। फिर अमुक्त आत्माएँ कर्मों से असम्बद्ध होती हुई

भी ऐसी योग्यता रखे, यह सर्वथा असम्भव है। बीज से ही अंकुर फूटता है, पत्थर से नहीं, उसी प्रकार कर्मरूप बीज के कारण ही आत्मा में वैसी योग्यता निष्पन्न होती है, अन्यथा नहीं।

[५२४]

एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतैः ।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्यं स्वयमेव तु ॥

वस्तुतः अपना हित—कल्याण साधने में समुद्यत शास्त्रवेत्ताओं को चाहिए, वे माध्यस्थ्य-भाव का अवलम्बन कर—तटस्थ होकर प्रस्तुत विषय —योग पर विशेष रूप से चिन्तन-विमर्श करें।

[५२५]

आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥

विद्वानों के लिए कौन सिद्धान्त अपना है और कौन पराया है। जो दृष्ट—निरीक्षण-परीक्षण द्वारा बाधित न हो, इष्ट—अपने अभीप्सित लक्ष्य के प्रतिकूल न हो, उसे ग्रहण करना उनके लिए युक्त—समुचित है।

[५२६]

स्वल्पमत्यनुकम्पायै योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥

सामान्य बुद्धि युक्त पुरुषों पर अनुग्रह करने हेतु, उन्हें लाभ पहुँचाने हेतु आचार्य हरिभद्र ने योगशास्त्ररूप महासागर से योग बिन्दु—योग की बूंद समुद्धृत की—निकाली।

[५२७]

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं यदेनं शुभयोगतः ।
भवान्ध्यविरहात् तेन जनः स्ताद् योगलोचनः ॥

यों योगबिन्दु समुद्धृत कर शुभ योग द्वारा उन्होंने जो पुण्य अर्जित किया, उनकी भावना है, उसके फलस्वरूप मानव-समुदाय का भवभ्रमणरूप अन्धता से विरह हो—जन्म-मरण के चक्र में डालने वाला अज्ञान छूटे, उसे योगरूप नेत्र प्राप्त हो। □

योगशतक

योगशतक

मंगलाचरण—

[१]
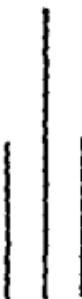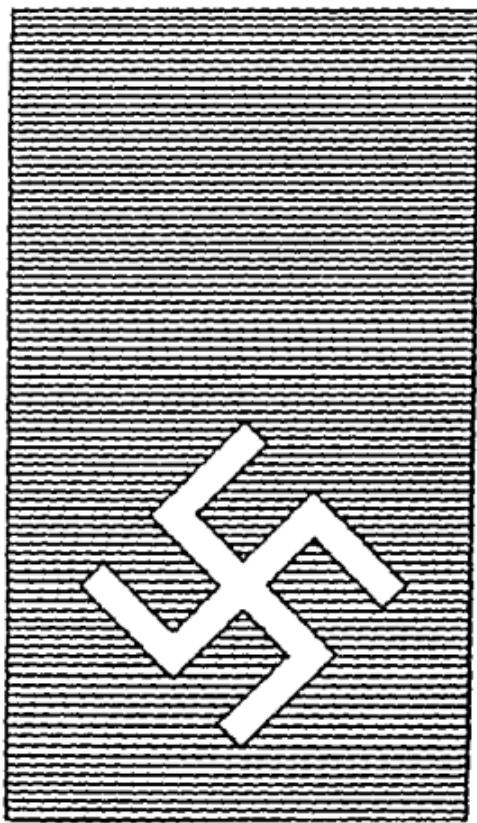
नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसंदंसगं महावीरं।
वोच्छामि जोगलेसं जोगज्झयणाणुसारेण ॥

योगियों के स्वामी —परम आराध्य, सुयोग-संदर्शक—आत्मोत्थान-कारी उत्तम योग-मार्ग दिखानेवाले भगवान् महावीर को नमस्कार कर मैं (अपने द्वारा किये गये) योगशास्त्रों के अध्ययन के अनुरूप संक्षेप में योग का विवेचन करूँगा।

निश्चय-योग—

[२]

निच्छयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबंधो।
मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेंहि ॥

निश्चय-दृष्टि से सद्ज्ञान—सम्यक्ज्ञान आदि अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना योग है, ऐसा योगीश्वरों ने बतलाया है। वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन—योग करता है—आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, इसलिए उसको 'योग' संज्ञा है।

[३]

सन्नाणं वत्थुगओ बोहो सद्दंसणं तु तत्थ रुई।
सच्चरणमणुट्ठाणं विहिपरिसेहाणुगं तत्थ ॥

वस्तुगत बोध—वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध सम्यक्ज्ञान है। उसमें

रुचि—आन्तरिक स्पृहा, निष्ठा सम्यक्‌दर्शन है। शास्त्रोक्त विधि-निषेध के अनुरूप उसका आचरण—जीवन में क्रियान्वयन सम्यक्‌चारित्र है। अर्थात् शास्त्रों में जिन कार्यों के करने का विधान है, उन्हें यथाविधि करना तथा जिनका निषेध है, उन्हें न करना—सम्यक्‌चारित्र कहा जाता है।

व्यवहार-योग—

[४]

ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि।
जो संबंधो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ॥

कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यक्‌ज्ञान, सम्यक्‌दर्शन तथा सम्यक्‌चारित्र के कारणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी व्यवहारतः योग कहा जाता है।

[५]

गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जह सत्ती॥

धर्मशास्त्रों में बतायी गयी विधि के अनुरूप गुरुजनों का विनय, शुश्रूषा—सेवा, परिचर्या, उनसे तत्त्व-ज्ञान सुनने की उत्कंठा तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन अर्थात् शास्त्रविहित आचरण करना और शास्त्रनिषिद्ध आचरण न करना व्यवहार-योग है।

[६]

एत्तो चिय कालेणं नियमा सिद्धी पगिट्ठरूवाणं।
सन्नाणाईण तहा जायइ अणुबंधभावेणं॥

इससे—व्यवहार-योग के अनुसरण से कालक्रम से प्रकृष्टरूप—उत्तरोत्तर विशेष शुद्धि प्राप्त करते सम्यक्‌ज्ञान आदि की—निश्चय-योग की सिद्धि अविच्छिन्न रूप में निष्पन्न होती है।

[७]

अद्धाणं गच्छंतो सम्मं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ।
जह तह गुरुविणयाइसु पयट्टओ एत्थ जोगित्ति॥

अपने इष्ट—इच्छित—लक्षित नगर की ओर यथाशक्ति जाता हुआ पुरुष जैसे इष्टपुरपथिक कहा जाता है, उसी प्रकार गुरु विनय आदि में प्रवृत्त साधक, जो सम्यक्ज्ञान आदि की परिपूर्ण उपलब्धिरूप योग को आत्मसात् नहीं कर सका है, पर उस पर यथाशक्ति गतिशील होने के नाते योगी कहा जाता है।

योग के अधिकारी—

[८]

अहिगारिणो उवाएण होइ सिद्धी समत्थवत्थुम्मि ।
फलपगरिसभावाओ विसेसओ जोगमग्गम्मि ॥

अधिकारी—योग्य प्रयोक्ता को समर्थ वस्तु में—जो वस्तु जो कार्य निष्पन्न करने में सक्षम है, उपाय द्वारा सिद्धि—सफलता प्राप्त होती है। उसका उत्तम परिणाम आता है। विशेषतः योग-मार्ग में तो ऐसा ही है। अर्थात् योग-साधना में योग्य अधिकारी या साधक को उपायरत रहने से सिद्धि प्राप्त होती है तथा आत्म-अभ्युदय के रूप में उसकी उत्तम फल-निष्पत्ति प्रस्फुटित होती है।

[९]

अहिगारी पुण एत्थं विन्नेओ अपुणबंधगाइ त्ति ।
तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽणेगभेओ त्ति ॥

जहाँ योग-मार्ग में अपुनर्बन्धक—चरम पुद्गलावर्त में अवस्थित अथवा संसार का अपना अन्तिम कालखण्ड बिताने की स्थिति में विद्यमान जीव अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिए। कर्म-प्रकृति की निवृत्ति या क्षयोपशम आदि की स्थिति के अनुसार वह अधिकार अनेक प्रकार का होता है।

अपुनर्बन्धक जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जीव कर्म-बन्ध करता है। कर्मों की अवधि तथा फल देने की शक्ति आदि का आधार कषाय की तीव्रता या मन्दता है। कषाय जितनी तीव्रता या मन्दता लिये होगा, फल उतना ही कटु या मधुर होगा, अवधि उतनी ही लम्बी या छोटी होगी।

जैन-दर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य—कम से कम तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक दो प्रकार की आवधिक स्थितियाँ मानी गयी हैं। आठों कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम है। इसका अभिप्राय यह हुआ, जो जीव अत्यन्त तीव्र कषाय से युक्त होता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति का मोहनीय कर्म बाँधता है। कई जीव ऐसे होते हैं, जिनका कषाय मन्द होता जाता है, वे कम अवधि का कर्म-बन्ध करते हैं। कषाय-मन्दता के क्रम की एक ऐसी स्थिति होती है, जहाँ कर्म-बन्ध बहुत हलका होता है।

जीव चरम-पुद्गल-परावर्त-स्थिति में होता है, उस समय कषाय बहुत ही मन्द रहता है। वह जीव तीव्रतम कषाय या संक्लेशमय परिणाम-युक्त नहीं बनता। फलतः वह फिर सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। जैन-दर्शन की भाषा में उसे अपुनर्बन्धक कहा जाता है। उसकी दूसरी संज्ञा शुक्लपाक्षिक भी है, क्योंकि मोहनीय कर्म के तीव्र भाव का अन्धेरा या कालिमा वहाँ रह नहीं जाती। आत्मा के सहज गुणों का उदय—उज्ज्वलता या शुक्लता प्रकाश में आने लगती है। अपुनर्बन्धकता की स्थिति पा लेने के बाद जीवन सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागमयी कर्मग्रन्थि टूट जाती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाता है। फिर क्रमशः आत्मरति तथा परविरति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य साध लेता है।

यहाँ प्रयुक्त चरम पुद्गलावर्त शब्द को भी समझ लेना चाहिए। यह भी जैन पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जीव अनादि काल से शरीर, मन, वचन आदि द्वारा संसार के पुद्गलों का किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन करता आ रहा है। कोई जीव विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण व विसर्जन कर चुकता है—सबका भोग कर लेता है, वह एक पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

यह पुद्गलों के ग्रहण-त्याग का क्रम जीव के अनादि-काल से चलता आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्तों में

से गुजरता रहा है। यही दीर्घ-संसार की श्रृंखला या चक्र है। इस चक्र में भटकते हुए जीवों में कई भव्य या मोक्षाधिकारी जीव भी होते हैं, जिनका कषाय-मान्द्य बढ़ता जाता है, मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वभाव कुछ-कुछ उद्भापित होने लगता है। ऐसी स्थिति आजाने पर जीव की संसार में भटकने की स्थिति परिमित या सीमित हो जाती है। संसार के समस्त पुद्‌गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सके, मात्र इतनी अवधि बाकी रह जाती है। उसे चरम-पुद्‌गलावर्त या चरमावर्त कहा जाता है।

[१०]

अनियत्ते पुण तीए एगंते णेव हंदि अहिगारो ।
तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारित्ति ॥

यदि तीव्र कर्म-प्रकृति निवृत्त नहीं हुई हो, व्यक्ति तत्परतन्त्र—उसके वशंगत हो—उस द्वारा परिचालित हो तो वह निश्चय ही योग का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उस पर भव-राग— सांसारिक रागात्मकतामय भाव छाया रहता है।

[११]

तप्पोग्गलाण तग्गज्झसहावावगमओ य एयं ति ।
इय दट्ठव्वं इहरा तह बंधाई न जुज्जंति ॥

जीव द्वारा गृहीत होना तथा उससे अपगत होना—पृथक होना कर्म-पुद्‌गलों का स्वभाव है। इसी कारण ऊपर वर्णित अधिकार-अनधिकार संगत है। यदि ऐसा न हो—कर्म आत्मा द्वारा गृहीत न हों, आत्मा से वियुक्त न हों तो बन्ध आदि की स्थिति घटित ही नहीं होती।

[१२]

एयं पुण निच्छयओ अइसयनाणी वियाणई नवरं ।
इयरो वि य लिंगेहिं उवउत्तो तेण भणिएणं ॥

आत्मा तथा कर्म के सम्बन्ध के विषय में निश्चित रूप से अतिशय ज्ञानी—पूर्णज्ञानी या सर्वज्ञ ही जानते हैं। दूसरे—छद्मस्थ—असर्वज्ञ

अनुमान आदि द्वारा तथा सर्वज्ञ-भाषित—शास्त्र-ज्ञान द्वारा उसके विषय में जानते हैं।

अपुनर्बन्धक आदि की पहिचान—

[१३]

पावं न तिव्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं।
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ॥

जो तीव्र भाव—उत्कट कलुषित भावना-पूर्वक पाप-कर्म नहीं करता, जो घोर—भीषण, भयावह संसार को बहुत नहीं मानता—उसमें आसक्त या रचा-पचा नहीं रहता, जो लौकिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक—सभी कार्यों में उचित स्थिति, न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है, वह अपुनर्बन्धक है।

[१४]

सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाणं जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मद्दिट्ठिस्स लिंगाइं ॥

धार्मिक तत्त्व सुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, आत्मसमाधि—आत्मशान्ति या श्रद्धासंभृत सुस्थिर भाव से नियमपूर्वक गुरु तथा देव की सेवा, परिचर्या—ये सम्यक्दृष्टि जीव के चिन्ह हैं।

[१५]

मग्गणुसारी सद्धो पन्नवणिज्जो कियापरो चेव।
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥

सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला, श्रद्धावान्, धर्मोपदेश के योग्य, क्रियाशील—धर्मक्रिया में अनुरत, गुणों में अनुरागी, यथाशक्ति अध्यात्म-साधना में यत्नशील व्यक्ति चारित्री कहा जाता है।

[१६]

एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा मुणेयव्वो।
आणापरिणइभेया अंते जा वीयरागो त्ति ॥

यह चारित्री वीतरागदशा प्राप्त होने तक सामायिक—समत्व की

शुद्धि के भेद से—समत्व-साधना की तरतमता से तथा वीतराग-आज्ञा—शास्त्रज्ञान की परिणति—जीवन में क्रियान्विति के अनुसार अनेक प्रकार का होता है, यह जानना चाहिए।

सामायिक : शुद्धि, अशुद्धि—

[१७]

पडिसिद्धेसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि।
सामाइयं असुद्धं सुद्धं समयाए दोसुं पि ॥

शास्त्र में जिनका निषेध किया गया है, ऐसे विषयों में द्वेष—अप्रीति, जिन विषयों का शास्त्र में विधान किया गया है, उनके सम्बन्ध में थोड़ा भी राग—इनके कारण सामायिक अशुद्ध हो जाती है। जो इन दोनों में—निषिद्ध और विहित में समभाव रखता है, उसके सामायिक शुद्ध होती है।

[१८]

एयं विसेसनाणा आवरणावगमभेयओ चेव ।
इय दट्ठव्वं पढमं भूसणठाणाइपत्तिसमं ॥

विशेष ज्ञान के कारण तथा कर्मावरण हटने की तरतमता के कारण वह शुद्ध सामायिक, सम्यक्‌दर्शन के लाभ के परिणाम-स्वरूप जीवन में फलित होने वाले शुभ चिन्हों में से कौशल, तीर्थसेवन, भक्ति, स्थिरता तथा प्रभावना, जो भूषण कहे जाते हैं, के सिद्ध होने पर एवं आसन आदि के सिद्ध होने पर प्रथम सामायिक अथवा सम्यक्त्व-सामायिक है, ऐसा जानना चाहिए।

ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण नामक अपने एक दूसरे ग्रन्थ में तथा उत्तरवर्ती उपाध्याय यशोविजयश्री ने अपनी 'सम्यक्त्व प्राप्ति' नामक कृति में इस सन्दर्भ में विशेष रूप से चर्चा की है। उनके अनुसार सम्यक्‌दर्शन, जिसे पातञ्जल योग की भाषा में विवेकख्याति कहा जा सकता है, जो सामायिक शुद्धि की पहली सीढ़ी है, प्राप्त हो जाने पर जीवन में सहजतया एक परिवर्तन आ जाता है। जीवन की दिशा बदल जाती है। फलस्वरूप जीवन-व्यवहार में, चिन्तन-क्रम में कुछ ऐसी विशेष-

तायें आ जाती हैं, जिससे विवेक-प्रसूत पवित्रता का दिग्दर्शन होता है। यहाँ ये सम्यक्त्व के सड़सठ चिन्हों के रूप में व्याख्यात हुई हैं। उनमें उपयुक्त कौशल आदि पाँच 'भूषण' संज्ञा से अभिहित हुए हैं।

[१९]

किरिया उ दंडजोगेण चक्कभमणं व होइ एयस्स।
आणाजोगा पुव्वाणुवेहओ चेव नवरं ति ॥

चक्र को डण्डे से घुमा देने पर जैसे वह चलने लगता है, उसी प्रकार उक्त साधक की जीवन-चर्या, व्यावहारिक क्रिया-प्रक्रिया शास्त्रयोग से—शास्त्रानुशीलन से प्राप्त पूर्व संस्कारों द्वारा चलती रहती है।

[२०]

वासीचंदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणी समक्खाओ।
भवमोक्खापडिबद्धो अओ य पाएण सत्थेसु ॥

शास्त्रों में मुनि को वासि-चन्दनसदृश कहा गया है – जो वसूला, कुल्हाड़ा चन्दन के वृक्ष को काटता है, वह वृक्ष उसको भी सुगन्धित करता है। उसी प्रकार साधु बुरा करने वाले का भी भला करता है। वह सुख-दुःख में समान भाव रखता है। जैसे कोई उसकी देह पर चन्दन का लेप करता है, कोई उसकी देह को वसूले से छीलता है, वह दोनों को ही समान मानता है। न वह देह छीलने वाले ष, होता है
लिप करने वाले पर प्रसन्न होता न संसार का
और न मोक्ष मे ही आसक्ति र अनासक्त ोता है
क्रिया में तत्पर रहता है। ेमुक्त

शास्त्राज्ञा रूपी अमृत से युक्त है—शास्त्रनिरूपित दिशा के अनुरूप है, वह सभी योग है।

[२२]

तल्लक्खणजोगाओ चित्तवित्तीनिरोहओ चेव ।
तह कुसलपवित्तीए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

चित्तवृत्ति का निरोध, कुशल—पुण्यात्मक प्रवृत्ति, मोक्ष से योजन—जोड़ना—इत्यादि योग के लक्षण भिन्न-भिन्न श्रेणी, परम्परा आदि के व्यक्तियों के समुचित अनुष्ठान में घटित हैं—संगत हैं।

[२३]

एएसि पि य पायंऽपज्झाणाजोगओ उ उचियम्मि ।
अणुट्ठाणम्मि पवित्ती जायइ तह सुपरिसुद्धि त्ति ॥

दूषित ध्यान एवं संक्लेशमय संस्कारों के न होने के कारण इन भिन्न-भिन्न अधिकारियों—योग्य साधकों की अपने-अपने अनुष्ठान में प्रवृत्ति—योगाभ्यास आदि साधनाक्रम सुपरिशुद्ध होता है।

[२४]

गुरुणा लिंगेहिं तओ एएसि भूमिगं मुणेऊणं ।
उवएसो दायव्वो जहोचियं ओसहाहरणा ॥

गुरु को चाहिए कि वे उनके लक्षणों से उनकी भूमिका पहचानें और उनके लिए जैसा उचित समझें, उपदेश करें, जैसे सुयोग्य चिकित्सक भिन्न-भिन्न रोगियों की दैहिक स्थिति, प्रकृति आदि देखते हुए औषधि, औषधि की मात्रा, अनुपान, पथ्य आदि सब बातों का ध्यान रखकर जिस रोगी को जिस प्रकार जो औषधि देनी हो, देता है।

प्रथम श्रेणी का साधक—

[२५]

पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं ।
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥

अपुनर्बन्धक जैसे प्रथम भूमिका के साधारण साधक को पर-पीड़ा-वर्जन—दूसरों को कष्ट न देना, गुरु, देव तथा अतिथि की पूजा—सत्कार, सेवा आदि, दीन जनों को दान, सहयोग आदि—ये कार्य करते रहने का उपदेश करना चाहिए।

[२६]

एवं चिय अवयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स।
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडण्डी बतला दी जाये तो वह उससे अपने सही मार्ग पर पहुँच जाता है, वैसे ही यह साधक लोक-धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है।

द्वितीय श्रेणी का साधक—

[२७-२८]

बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि अणुव्वयाइ अहिगिच्च।
परिसुद्धाणाजोगा तस्स तहाभावमासज्ज ॥

तस्साऽऽसन्नत्तणओ तम्मि दढं पक्खवायजोगाओ।
सिग्घं परिणामाओ सम्मं परिपालणाओ य ॥

विशुद्ध आज्ञा-योग शास्त्रीय विधिक्रम के आधार पर दूसरी श्रेणी के साधक (सम्यक्‌दृष्टि) के भाव—परिणाम आदि की परीक्षा कर उसे लोकोत्तर धर्म—अध्यात्म-धर्म—अणुव्रत आदि का उपदेश करना चाहिए। यही उपदेश परिपालन की दृष्टि से उसके सान्निकट है। इसी में उसकी विशेष अभिरुचि संभावित है। इसका फल शीघ्र प्राप्त होता है तथा सरलता से इसका पालन किया जा सकता है।

तृतीय श्रेणी का साधक—

तीसरी श्रेणी के साधक (चारित्री) को नीति-युक्तिपूर्वक सामायिक आदि से सम्बद्ध परमार्थोद्दिष्ट भावप्रधान उपदेश देना चाहिए, जिससे वह उत्तम योगसिद्धि की ओर बढ़ता जाये।

गृही साधक—

[३०-३२]

स धम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं ।
जिणपूय-भोयणविहो संझानियमो य जोगं तु ॥
चियवंदण-जइविस्सामणा य सवणं च धम्मविसयंति ।
गिहिणो इमो वि जोगो किं पुण जो भावणामग्गो ॥
एमाइ वत्थुविसओ गहीणमुवएसमो मुणेयव्वो ।
जइणो पुण उवएसो सामायारो तहा सव्वा ॥

सद्धर्म के अनुरोध से—धर्माराधना में बाधा न आये, यह ध्यान में रखते हुए गृही साधक अपनी आजीविका चलाये, विशुद्ध—निर्दोष दान दे, वीतराग की पूजा करे, यथाविधि भोजन करे, सन्ध्याकालीन उपासना के नियमों का पालन करे। यह योग के अन्तर्गत है।

चैत्य-वन्दन, यति—त्यागी साधु को स्थान, पात्र आदि का सहयोग, उनसे धर्म-श्रवण—गृही के लिए यह सब योग है। फिर भावना-मार्ग का अभ्यास करे—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य तथा अनित्यत्व, अशरणत्व, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्मस्वाख्यातत्व, लोक, बोधिदुर्लभत्व—मन में ये उत्तम भावनाएँ लाने, उनसे अनुभावित एवं अनुप्राणित होने की तो बात ही क्या, वह तो योग का पावन पथ है ही।

यह जो उपदेश किया गया है, गृहस्थ के लिए समझना चाहिए। साधु के लिए उपदेश समाचारी—आचार—विधि में आ जाता है।

समाचारी—

[३३-३५]

गुरुकुलवासो गुरुतंतयाए उचियविणयस्स करणं च ।
वसहीपमज्जणाइसु जत्तो तह कालवेक्खाए ॥

अणिगूहणा बलम्मी सव्वत्थ पवत्तणं पसंतीए ।
नियलाभचिंतणं सइ अणुग्गहो मे त्ति गुरुवयणे ॥

संवरनिच्छिड्डत्तं सुद्धुञ्छाजीवणं सुपरिसुद्धं ।
विहिसज्झाओ मरणादवेक्खणं जइजणुवएसो ॥

गुरु के तन्त्र—आज्ञा में रहते हुए गुरुकुल में निवास करना, यथोचित रूप में विनय-धर्म का पालन करना, यथासमय अपने रहने के स्थान के प्रमार्जन आदि में यत्नशील रहना, अपना बल छिपाये बिना—मैं क्यों इतना कष्ट करूँ, इस संकीर्ण भावना से अपना बल न छिपाते हुए अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाते हुए सभी कार्यों में शान्तभाव से प्रवृत्त रहना, गुरु के वचनों का पालन करने में मेरा लाभ—कल्याण है, यों सदा चिन्तन करना, निर्दोष रूप में संयम का पालन करना, विशुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करना, यथाविधि स्वाध्याय करना तथा मृत्यु जैसे कष्टों का सामना करने को समुद्यत रहना—यह यति-धर्म है।

उपदेश : नियम—

[३६]

उवएसो विसयम्मी विसए वि अणीइसो अणुवएसो ।
बंधनिमित्तं नियमा जहोइओ पुण भवे जोगो ॥

सुयोग्य साधक को उचित विषय में करने योग्य कार्यों का उपदेश देने के साथ-साथ उसमें बाधा उत्पन्न करने वाली हेय बातों से बचने का उपदेश न दिया जाये तो ऊपर योग-साधना का जो विधिक्रम बताया गया है, वह अवश्य ही बन्धन का कारण बनता है।

[३७]

गुरुणो अजोगिजोगो अच्चंतविवागदारुणो णेओ ।
जोगिगुणहीलणा-नट्ठनासणा- ॥

वह अत्यन्त विपाक-दारुण—परिणाम में अत्यधिक कष्टप्रद होता है, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि उससे योगी के गुणों की अवहेलना होती है, वह अयोग्य पुरुष स्वयं अपना नाश करता है तथा औरों का भी नाश करता है। इससे धर्म का हलकापन दीखता है।

[३८]

एयम्मि परिणयम्मी पवत्तमाणस्स अहियठाणेसु ।
एस विही अइनिउणं पायं साहारणो नेओ ॥

यों जीवन में परिपक्वता पा लेने के बाद उत्तरवर्ती उत्तम गुणस्थानों में प्रवर्तन करते हुए—चढ़ते हुए साधकों के लिए अत्यन्त निपुणता—सूक्ष्मता-पूर्वक कहे जाते नियमों को प्रायशः साधारण—सर्वग्राह्य मानना चाहिए।

[३९]

नियसहावालोयण-जणवायावगम-जोगसुद्धेहिं ।
उचियत्तं नाऊणं निमित्तओ सय पयट्टेज्जा ॥

अपने स्वभाव—प्रकृति का अवलोकन करते हुए, जनवाद—लोकवाद—लोकपरंपरा को जानते हुए शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य समझकर वाह्य निमित्त—शकुन—स्वर, नाड़ी, अंगस्फुरण आदि का अंकन करते हुए उनमें (नियमों के अनुसरण में) प्रवृत्त होना चाहिए।

[४०]

गमणाइएहिं कायं निरवज्जेहिं वयं च भणिएहिं।
सुहचिंतणेहिं य मणं सोहेज्जा जोगसिद्धि त्ति ॥

निर्दोष गमन आदि—यत्नपूर्वक—यतना सहित जाना, आना, उठना, वैठना, खाना, पीना आदि क्रियाओं द्वारा शरीर का, निरवद्य—पापरहित वाणी द्वारा वचन का तथा शुभ चिन्तन द्वारा मन का शोधन करना योगसिद्धि है।

[४१]

सुहसंठाणा अन्ने कायं वायं च सुहसरेणं तु ।
सुहसुविणेहिं च मणं जाणेज्जा साहुसिद्धि त्ति ॥

इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्थान—वरिष्ठ आकार-प्रकार द्वारा शरीर की, शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए।

[४२]

एत्थ उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।
आसज्जइ गुणठाणं सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र, शुभ काल आदि का अवलम्बन कर सद्‌गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया-समुदय स्वीकार किया जाता है, तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त होता है।

[४३]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धीपहाणमो नेओ ।
सम्मं अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त-शुद्धि की प्रधानता है, ऐसा जानना चाहिए। अतः अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभांति अवेक्षण—अवलोकन करे—इस पर चिन्तन-विमर्श करे अन्यथा वह विधि परिशुद्ध नहीं होगी।

[४४]

उड्ढं अहियगुणेहिं तुल्लगुणेहिं च निच्चसंवासो ।
तग्गुणठाणोचियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों, उनका सदा सहवास करना चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए। स्मृति-समायुक्त होते हुए—अपनी आचार-विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

[४५]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।
अरई य अहिगयगुण तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

उत्तर गुणों का—अहिंसा आदि मूल गुणों के परिपोषक गुणों का बहुमान करना चाहिए—उनका आदरपूर्वक पालन करना चाहिए। स्वीकार किये हुए गुणों में अरति—अरुचि हो तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अरति-निवारण—

[४६-४८]

अकुसलकम्मोदयपुव्वरूवमेसा जओ समक्खाया ।
सो पुण उवायसज्झो पाएण भयाइसु पसिद्धो ॥
सरणं भए उवाओ रोगे किरिया विसम्मि मंतो त्ति ।
एए वि पावकम्मावक्कमभेया उ . तत्तेण ॥
सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओ त्ति कम्मरोगम्मि ।
मंतो पुण सज्झाओ मोहविसविणासणो पयरो ॥

बताया गया है कि अरति अशुभ कर्मों के उदय का पूर्वरूप—कारण है। पर भय आदि अशुभ कर्मोदय रूप अरति का निवारण प्रायः उपायसाध्य है—उपाय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है।

भय उत्पन्न होने पर समर्थ की शरण, रोग हो जाने पर चिकित्सा, पथ्य, परहेज आदि क्रिया तथा विष से दुष्प्रभावित होने पर मन्त्र शरण है—उन द्वारा ये विकार दूर हो सकते हैं, उसी प्रकार अशुभ कर्म का निवारण करने के लिए भी तात्त्विक उपाय हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में भयाक्रान्त के लिए गुरु शरण है, कर्म-रोग को मिटाने में तप क्रिया—चिकित्सा है तथा मोहरूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मन्त्र है।

[४९]

एएसु जत्तकरणा तस्सोवक्कमणभावओ पायं ।
नो होइ पच्चवाओ अवि य गुणो एस परमत्थो ॥

इन उपायों में प्रयत्नशील रहने से, पाप-कर्म के अपक्रम से—पाप-बल घटने से, मिटने से साधना में प्रायः कोई विघ्न नहीं आता। वस्तुतः

इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्थान—वरिष्ठ आकार-प्रकार द्वारा शरीर की, शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए।

[४२]

एत्थ उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।
आसज्जइ गुणठाणं सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र, शुभ काल आदि का अवलम्बन कर सद्‌गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया-समुदय स्वीकार किया जाता है, तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त होता है।

[४३]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धीपहाणमो नेओ ।
सम्मं अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त-शुद्धि की प्रधानता है, ऐसा जानना चाहिए। अतः अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभाँति अवेक्षण—अवलोकन करे—इस पर चिन्तन-विमर्श करे अन्यथा यह विधि परिशुद्ध नहीं होती।

[४४]

उड्ढं अहियगुणेहिं तुल्लगुणेहिं च निच्चसंवासो ।
तग्गुणठाणोचियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों, उनका सदा सहवास करना चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए। स्मृति-समायुक्त होते हुए—अपनी आचार-विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप क्रियाओं का पालन करना चाहिए।

[४५]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।
अरई य अहिगयगुण तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

उत्तर गुणों का—अहिंसा आदि मूल गुणों के परिपोषक गुणों का बहुमान करना चाहिए—उनका आदरपूर्वक पालन करना चाहिए। स्वीकार किये हुए गुणों में अरति—अरुचि हो तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए।

अरति-निवारण—

[४६-४८]

अकुसलकम्मोदयपुव्वरूवमेसा जओ समक्खाया ।
सो पुण उवायसज्झो पाएण भयाइसु पसिद्धो ॥

सरणं भए उवाओ रोगे किरिया विसम्मि मंतो त्ति ।
एए वि पावकम्मावक्कमभेया उ . तत्तेण ॥

सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओ त्ति कम्मरोगम्मि ।
मंतो पुण सज्झाओ मोहविसविणासणो पयरो ॥

बताया गया है कि अरति अशुभ कर्मों के उदय का पूर्वरूप—कारण है। पर भय आदि अशुभ कर्मोदय रूप अरति का निवारण प्रायः उपायसाध्य है—उपाय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है।

भय उत्पन्न होने पर समर्थ की शरण, रोग हो जाने पर चिकित्सा, पथ्य, परहेज आदि क्रिया तथा विष से दुष्प्रभावित होने पर मन्त्र शरण है—उन द्वारा ये विकार दूर हो सकते हैं, उसी प्रकार अशुभ कर्म का निवारण करने के लिए भी तात्त्विक उपाय हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में भयाक्रान्त के लिए गुरु शरण है, कर्म-रोग को मिटाने में तप क्रिया—चिकित्सा है तथा मोहरूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मन्त्र है।

[४६]

एएसु जत्तकरणा तस्सोवक्कमणभावओ पायं ।
नो होइ पच्चवाओ अवि य गुणो एस परमत्थो ॥

इन उपायों में प्रयत्नशील रहने से, पाप-कर्म के अपक्रम से—पाप-बल घटने से, मिटने से साधना में प्रायः कोई विघ्न नहीं आता। वस्तुतः

यह प्रयत्न पारमार्थिक है—साधक की उन्नति की दृष्टि से विशेष लाभ-प्रद है।

[५०]

चउसरणगमण-दुक्कडगरिहा सुकयाणुमोयणा चेव ।
एस गणो अणवरयं कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥

अर्हत्, सिद्ध, साधु तथा धर्म—इन चार की शरण, दुष्कृत-गर्हा—पापों की निन्दा तथा सुकृत-अनुमोदना—शुभ कर्मों का समर्थन, प्रशंसा—इन क्रियाओं को पुण्य-हेतु—श्रेयस्कर मानते हुए निरन्तर करते रहना चाहिए।

नवाभ्यासी की प्रमुख चर्या—

[५१-५२]

चरमाणपवत्ताणं जोगीणं जोगसाहणोवाओ ।
एसो पहाणतरओ नवर पवत्तस्स विन्नेओ ॥

भावण-सुयपाढो तित्थसवणमसयं तयत्थजाणम्मि ।
तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोसवेक्खाए ॥

ऊपर वर्णित तथ्य चरमपुद्गलावर्त में विद्यमान योगियों के लिए योग-साधना का उपाय—आचरणीय विधि है। साधना में प्रवृत्त मात्र योगियों के लिए—नवाभ्यासी साधकों के लिए यहाँ प्रतिपादित किया जा रहा कार्यक्रम प्रमुख उपाय के रूप में समझा जाना चाहिए।

ऐसे साधक को भावना—अनुचिन्तना, सद्विचारणा, शास्त्र-पाठ, तीर्थ-सेवन, बार-बार शास्त्र-श्रवण, उसके अर्थ का ज्ञान, तत्पश्चात् सूक्ष्मता-पूर्वक आत्मप्रेक्षण—अपने दोषों तथा कमियों का बारीकी से अवलोकन—इन कार्यों में अभिरत रहना चाहिए।

कर्म-प्रसंग—

[५३]

रागो दोसो मोहो एए एत्थाऽऽयदूसणा दोसा ।
कम्मोदयसंजणिया विन्नेया आयपरिणामो ॥

आत्मा को दूषित—कलुषित करने के कारण राग, द्वेष तथा मोह दोष कहे गये हैं। वे कर्मों के उदय से जनित आत्मपरिणाम हैं।

[५४]

कम्मं च चित्तपोग्गलरूवं जीवस्सऽणाइसंबद्धं ।
मिच्छत्ताइनिमित्तं नाएणमईयकालसमं ॥

कर्म विविध पुद्गलमय हैं। वे जीव के साथ अनादि काल से सम्बद्ध हैं। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा वे आत्मा के साथ संपृक्त होते हैं। भूतकाल के उदाहरण से इसे समझना चाहिए।

[५५]

अणुभूयवत्तमाणो सव्वोवेसो पवाहओऽणाइ ।
जह तह कम्मं नेयं कयकत्तं वत्तमाणसमं ॥

जो भी भूतकाल है, वह वर्तमान का अनुभव किये हुए है—कभी वह वर्तमान के रूप में था। फिर भूत के रूप में परिवर्तित हुआ। इस अपेक्षा से वह सादि है पर प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म को भी वैसा ही समझना चाहिए। वह कृतक—कर्ता द्वारा कृत—किया हुआ होने के कारण वर्तमान के समान है, सादि है, प्रवाहरूप में अनादि है।

[५६]

मुत्तेणममुत्तिमओ उवघायाणुग्गहा वि जुज्जंति ।
जह विन्नाणस्स इहं मइरापाणोसहाईहिं ॥

जैसे मदिरा-पान, औषधि-सेवन आदि का चेतना पर प्रभाव पड़ता है—मदिरा पीने से मनुष्य अपना होश गँवा बैठता है, सशक्त रसायनमय औषधि से मरणोन्मुख, मूर्च्छित रोगी भी एक बार होश में आ जाता है, बोल तक लेता है; उसी प्रकार मूर्त—रूपी कर्म का अमूर्त आत्मा पर प्रतिकूल-अनुकूल—बुरा, भला प्रभाव पड़ता है।

[५७]

एवमणाई एसो संबन्धो कंचणोवलाणं व ।
एयाणमुवाएणं तह वि वियोगो वि हवइ त्ति ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्वर्ण तथा मृत्तिका-पिण्ड के सम्बन्ध की तरह अनादि है । खान में सोना और मिट्टी के ढेले कब से मिले हुए है, यह नहीं कहा जा सकता । यही स्थिति आत्मा और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की है । ऐसा होते हुए भी उपाय द्वारा उनका वियोग—पार्थक्य साध्य हैं ।

[५८]

एवं तु बंधमोक्खा विणोवयारेण दो वि जुज्जंति ।
सुहदुक्खाइ य दिट्ठा इहरा ण कयं पसंगेण ॥

यों बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही आत्मा के साथ यथार्थतः घटित होते हैं । यदि ऐसा न हो तो अनुभव में आने वाले सुख तथा दुःख आत्मा में घटित नहीं हो सकते ।

दोष-चिन्तन—

[५९-६०]

तत्थाभिस्संगो खलु रागो अप्पीइलक्खणो दोसो ।
अन्नाणं पुण मोहो को पीडइ मं दढमिमेसिं ॥
नाऊण तओ तव्विसय-तत्त-परिणय-विवाग-दोसे त्ति ।
चिंतेज्जाऽऽणाइ दढं पइरिक्के सम्ममुवउत्तो ॥

दोषों में राग—अभिसंग या आसक्ति रूप है, द्वेष का लक्षण अप्रीति है, मोह अज्ञान है । इनमें से मुझे डटकर—अत्यधिक रूप में कौन पीड़ा दे रहा है, यह समझकर उन दोषों के विषय में—उनके स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि का एकान्त में एकाग्र मन से भलीभाँति चिन्तन करे ।

[६१]

गुरु देवयापमाणं काउं पउमासणाइठाणेणं ।
वंसमसगाइ फाए अगणंतो तग्गयज्झप्पो ॥

चिन्तनीय विषय में मन को अनुस्यूत कर—भलीभाँति लगाकर,

पद्मासन आदि में संस्थित होकर शरीर पर होते डांस, मच्छर आदि के उपद्रव को न गिनता हुआ साधक गुरु तथा देव की साक्षी से चिन्तन करे।

[६२]

गुरुदेवयाहि जायइ अणुग्गहो अहिगयस्स तो सिद्धी ।
एसो य तन्निमित्तो तहाऽऽयभावाओ विन्नेओ ॥

गुरु तथा देव के अनुग्रह से प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता प्राप्त होती है। यह अनुग्रह उनके प्रति उत्तम आत्म-परिणाम रखने से प्राप्त होता है।

[६३]

जह चेव मंतरयणाइएहिं विहिसेवगस्स भव्वस्स ।
उवगाराभावम्मि वि तेसिं होइ त्ति तह एसो ॥

मन्त्र, रत्न आदि स्वयं अपना उपकार नहीं करते हुए, जो यथाविधि उनका सेवन—प्रयोग करता है, उनका हित साधते हैं। यही स्थिति गुरु तथा देव के साथ है। उनमें हितसाधकता की असाधारण क्षमता है पर उसका उपयोग दूसरों का उपकार करने में होता है।

[६४]

ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमाणभावो य ।
दंसा य अगणणम्मि वि वीरियजोगो य इट्ठफलो ॥

आसन साधने से देह का निरोध होता है। देह का निरोध करने वाले इन्द्रियजयी साधकों के प्रति लोगों में अत्यधिक आदरभाव उत्पन्न होता है। वे जीव-जन्तुओं द्वारा लगाये गये डंक आदि की परवाह नहीं करते। इससे उनमें इच्छित फलप्रद वीर्य योग—यौगिक पराक्रम का उदय होता है।

[६५]

तग्गयचित्तस्स तहोवओगओ तत्तभासणं होइ ।
एयं एत्थ पहाणं अंगं खलु इट्ठसिद्धीए ॥

चिन्तन-मनन-योग्य विषय में तन्मयता तथा उपयोग द्वारा तत्त्व भासित होता है—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाश में आता है। सत्य का उद्भास—भान या प्रतीति ही इष्ट-सिद्धि का मुख्य अंग है।

[६६]

एयं खु तत्तनाणं असप्पवित्ति-विणिवित्ति-संजणगं।
थिरचित्तगारि लोगदुगसाहगं बिंति समयन्नू ॥

शास्त्रज्ञ बतलाते हैं—तत्त्व-ज्ञान से असत् प्रवृत्ति का निवारण होता है, चित्त में स्थिरता आती है, ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के हित सधते हैं।

[६७]

थीरागम्मि तत्तं तासिं चिंतेज्ज सम्मबुद्धीए ।
कलमलगमंससोणियपुरीसकंकालपायं ति ॥

यदि नारी के प्रति राग हो तो रागासक्त पुरुष सम्यक् बुद्धिपूर्वक यों चिन्तन करे—अत्यन्त सुन्दर दीखने वाली नारी की देह उदरमल, मांस, रुधिर, विष्ठा, अस्थि-कंकाल मात्र ही तो है। इसमें कैसा राग! कैसी आसक्ति!

[६८]

रोगजरापरिणामं नरगाइविवागसंगयं अहवा ।
चलरागपरिणयं जीयनासणविवागदोस त्ति ॥

एक समय आता है, वही सुन्दर देह रोग तथा वृद्धावस्था से ग्रस्त हो जाती है, नरक गति आदि कठोर फलप्रद होती है। कितना आश्चर्य है, ऐसी देह के प्रति चंचलतापूर्ण राग उत्पन्न होता है, जो जीवन को नष्ट कर देने वाला है, तथा जिसका परिणाम दोषपूर्ण है।

[६९]

अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइदुक्खसयसंकुलं तत्तं ।
गमणपरिणामजुत्तं कुगइविवागं च चिंतेज्जा ।

यदि धन के प्रति राग हो तो इस रूप में चिन्तन करना चाहिए—धन के अर्जन रक्षण आदि में सैकड़ों प्रकार के दुःख हैं। धन सदा नहीं रहता। उसका विनाश भी हो जाता है। धन का फल दुर्गति है। क्योंकि अक्सर उसके आने पर मनुष्य उन्मत्त बन जाता है।

[७०]

दोसम्मि उ जीवाणं विभिन्नयं एव पोग्गलाणं च।
अणवट्ठियं परिणइं विवागदोसं च परलोए ॥

यदि द्वेष का भाव हो तो साधक यह चिन्तन करे—जीव और पुद्गल—भौतिक वस्तु-समुदाय भिन्न हैं। उन (पुद्गलों) का परिणमन अनवस्थित—अस्थिर है—जिस रूप में वे अभी है, कालान्तर में वह रूप नहीं रहेगा।

द्वेष का परिणाम परलोक में बड़ा अनिष्टकर होता है।

[७१]

चिंतेज्जा मोहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तत्तं।
उप्पाय-वय-धुवजुवं अणुहवजुत्तीए सम्मं ति ॥

साधक पहले अनुभव तथा युक्तिपूर्वक वस्तु-स्वरूप का भली भाँति चिन्तन करे कि वह (वस्तु) उत्पाद—उत्पत्ति, व्यय—विनाश तथा ध्रुवता—अविनश्वरता या शाश्वतता युक्त है। अर्थात् उसका मूल स्वरूप ध्रुव है पर बाह्य रूप, आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से वह परिवर्तनशील है। ऐसी वस्तु के प्रति, जिसका रूपात्मक अस्तित्व ही स्थिर नहीं, कैसा मोह!

[७२]

नाभावो च्चिय भावो अइप्पसंगेण जुज्जइ कया वि।
न य भावोऽभावो खलु तहासहावत्तभावाओ ॥

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अभाव भावरूप में घटित नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाव अभाव का रूप नहीं ले सकता। ऐसा होने से—अभाव का भाव के रूप में तथा भाव का अभाव के रूप में परिणत होने से

अतिप्रसंग दोष आता है, वस्तु-तत्त्व की व्यवस्था ही अनवस्थित हो जाती है।

[७३]

एयस्स उ भावाओ निवित्ति-अणुवित्तिजोगओ होंति ।
उप्पायाई नेयं अविकारी अणुहवविरोहो ॥

वस्तु में स्वभावतः निवृत्ति-अनुवृत्ति—एक पर्याय का त्याग, दूसरे का ग्रहण—एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाना—ऐसा क्रम चलता रहता है। पर साथ ही साथ वस्तु का मूल तत्त्व स्थिर रहता है. इससे वस्तु में उत्पाद, विनाश तथा ध्रुवता—ये तीनों ही सिद्ध होते हैं। अतः वस्तु को अविकारी—परिणमन या परिवर्तन रहित, कूटस्थ मानना अनुभव-विरुद्ध है।

[७४]

आणाए चिंतणम्मी तत्तावगमो निओगओ होइ ।
भावगुणागरबहुमाणओ य कम्मक्खओ परमो ॥

शास्त्रानुसार चिन्तन करने से निश्चय ही तत्त्व-बोध होता है। भाव-पूर्वक गुणों का, गुणी जनों का बहुमान करने से परम—अत्यन्त कर्म-क्षय होता है।

[७५]

पइरिक्के वाघाओ न होइ पाएण जोग वसिया य ।
जायइ तहा पसत्था हंदि अणब्भत्थजोगाणं ॥

जिन्होंने योग का अभ्यास नहीं किया है, उनको भी एकान्त में चिन्तन करने से प्रायः कोई व्याघात—विघ्न, प्रातिकूल्य नहीं होता। प्रत्युत इससे उनका उत्तम योग पर अधिकार होता है। दूसरे शब्दों में वे योग-साधना के पथ पर आरूढ़ होने के अधिकारी हो जाते हैं।

[७६]

उवओगो पुण एत्थं विन्नेओ जो समीवजोगो त्ति ।
विहियकिरियागओ खलु अवितहभावो उ सव्वत्थ ॥

प्रस्तुत सन्दर्भ में समागत उपयोग शब्द को उप=समीप, योग=व्यापार, प्रवर्तन—इस अर्थ में लेते है तो इसका अभिप्राय शास्त्र-प्रतिपादित क्रिया में सत्य भाव रखना—उसे सत्य मानना, वैसी निष्ठा लिये गन्तव्य पथ पर अग्रसर होना निष्पन्न होता है।

[७७]

एवं अब्भासाओ तत्तं परिणमय चित्तथेज्जं च ।
जायइ भावाणुगामी सिव सुहसंसाहगं परमं ॥

इस प्रकार अभ्यास करने से भावानुरूप तत्त्व-परिणति—तत्त्व-साक्षात्कार होता है, चित्त में स्थिरता आती है तथा परम—सर्वोत्तम, अनुपम मोक्ष-सुख प्राप्त होता है।

सच्चिन्तन—

[७८]

अहवा ओहेणं चिय भणियविहाणाओ चेव भावेज्जा ।
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसंविग्गो ॥

चिन्तन का एक और (उपयोगी तथा सुन्दर) प्रकार है—परम संविग्न—अत्यन्त संवेग या वैराग्य युक्त साधक शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार सामष्टिक रूप में प्राणी मात्र के प्रति मैत्री आदि गुणनिष्पन्न भावनाओं से अनुभावित रहे।

[७९]

सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोयं गुणाहिएसु त्ति ।
करुणामज्झत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव, गुणाधिक—गुणों के कारण विशिष्ट

—सद्गुण सम्पन्न पुरुषों के प्रति प्रमोद-भाव—उन्हें देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव करना, दुःखियों के प्रति करुणा-भाव, अविनीत—उद्दण्ड या उद्धत जनों के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए।

[८०]

एसो चेवेत्य कमो उचियपवित्तीए वन्निओ साहू।
इहरा ऽ समंजसत्तं तहा तहाऽठाणविणिओगा ॥

उचित प्रवृत्ति—योगाभ्यासानुकूल आचरणीय विधि-विधान, भावनानुभावन आदि के सन्दर्भ में यहाँ जो क्रम वर्णित हुआ है, साधकों के लिए वह ग्रहण करने योग्य है। यदि समुचित क्रमानुरूप अभ्यास न चले, विपरीत रीति से चले तो साधना में सामंजस्य नहीं रह पाता।

आहार—

[८१]

साहारणो पुण विही सुक्काहारो इमस्स विन्नेओ।
अन्नत्थ ओयएसो सव्वासंपक्करी भिक्खा ॥

वैराग्यवान् पुरुष के लिए सामान्यतः रूखा-सूखा भोजन करने का विधान है। साथ ही साथ सर्वसम्पन्नताप्रद-परम श्रेयस्कर—आत्मोन्मुखी जीवन की निर्वन्ध पोषिका भिक्षा का भी विधान है, जिसका अन्यत्र वर्णन है।

[८२]

वणलेवो धम्मेणं उचियत्तं तग्गयं निओगेण ।
एत्यं अवेक्खियव्वं इहरा जोगो त्ति दोसफलो ॥

भिक्षा व्रण-लेप के समान है। फोड़े पर, उसे मिटाने हेतु जैसे किसी दवा का लेप किया जाता है, उसी प्रकार भूख, प्यास आदि मिटाने हेतु भिक्षा ग्रहण की जाती है। दवा चाहे कितनी ही कीमती क्यों न हो, फोड़े पर उतनी ही लगाई जाती है, जितनी आवश्यक हो। उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त हो रहे खाद्य, पेय आदि पदार्थ कितने ही सुस्वादु एवं सरस क्यों न

हों, वे अनासक्त भाव से उतने ही स्वीकार किये जाएँ, क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्ति हेतु जितनी उनकी आवश्यकता हो। योगी को भिक्षा का समुचित विधि-क्रम यथार्थ रूप में समझ लेना चाहिए। ऐसा न होने पर भिक्षा निर्दोष नहीं होगी। फलतः साधक का योग सदोष हो जायेगा।

यौगिक लब्धियाँ—

[८३]

जोगाणुभावओ चिय पायं न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि संपत्ती इमस्स जं वन्निया समए ॥

योग के प्रभाव से योगी के पाप-कर्म—अकुशल या अशुभ कर्म नहीं बँधता प्रत्युत उसे शुभ का लाभ होता है, उसके पुण्य बन्ध होता है। शास्त्रों में योगियों को लब्धियाँ प्राप्त होने का जो वर्णन है, वह इस तथ्य का सूचक है। अर्थात् योगी के विपुल पुण्य-संभार से स्वतः अद्भुत विभूतियाँ आविर्भूत होती है।

[८४]

रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए ॥

ज्यों-ज्यों योगी के जीवन में योग-वृद्धि—योग-साधना का विकास होता जाता है, त्यों त्यों रत्न आदि, अणिमा आदि एवं आमोसहि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती है।

ये यौगिक शक्तियाँ जैन परम्परा में लब्धियाँ कही जाती है। योगसूत्र के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने इन्हें विभूतियाँ कहा है। बौद्ध परम्परा में ये अभिज्ञाएँ कही गई हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में इन विभूतियों का यथास्थान वर्णन किया है, जहाँ उन्होंने बताया है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—योग के इन आठ अंगों के सिद्ध हो जाने पर अमुक अमुक विभूतियाँ—असामान्य शक्तियाँ संप्राप्त हो जाती हैं।

योगसूत्र में उल्लेख है कि अस्तेय यम के सध जाने पर सब दिशाओं में स्थित, पृथ्वी में कहीं भी गुप्त स्थानों में गड़े हुए रत्न योगी के समक्ष प्रकट हो जाते हैं।[१] वे योगी को प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। प्रस्तुत गाथा में रत्न लब्धि का जो उल्लेख है, वह इस कोटि में संभावित है।

योगसूत्र में धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन तीनों का किसी एक ध्येय में एकत्र होना संयम कहा गया है।[२] संयम द्वारा योगी विकास की अनेक कोटियाँ प्राप्त करता है। पतञ्जलि ने बताया है कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व—भूतों की इन पाँच अवस्थाओं में संयम द्वारा योगी भूतजय प्राप्त करता है[३]—भूतों पर उसका अधिकार हो जाता है। भूत-जयसे उसके अणिमा—अणुसदृश सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, लघिमा—शरीर को अत्यन्त हलका बना लेना, महिमा—शरीर को बहुत बड़ा कर लेना, गरिमा—शरीर को बहुत भारी बना लेना, प्राप्ति—चाहे गये जिस किसी भौतिक पदार्थ का संकल्प मात्र मे प्राप्त हो जाना, प्राकाम्य—भौतिक पदार्थ सम्बन्धी कामना का निर्बाध, अनायास पूरा हो जाना, वशित्व—पाँच भूतों तथा तन्निष्पन्न पदार्थों का वशगत हो जाना, ईशित्व—भूतों तथा भौतिक पदार्थों को नाना रूपों में परिणत करने की, उन पर शासन करने की क्षमता प्राप्त कर लेना—ये आठों सिद्धियाँ सध जाती हैं।[४] प्रस्तुत गाथा में अणिमा शब्द इसी आशय से प्रयुक्त है।

जैन परम्परा में भी संयम के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियों का वर्णन आया है। वहाँ आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लमोसहि आदि की चर्चा है। 'आमोसहि' का अभिप्राय यह है—जिस

---

१. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

—योगसूत्र २.३७

२. त्रयमेकत्र संयमः।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४

३. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४४

४. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४५

योगी को यह लब्धि प्राप्त हो जाती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते है। योगी का विप्प—मल-मूत्र, खेल—कफ आदि, जल्ल—शरीर का मैल भी, जब वह (योगी) विप्पोसहि, खेलोसहि तथा जल्लमोसहि संज्ञक लब्धियाँ प्राप्त कर लेता है, रोग पर औपधि-सदृश काम करते हैं।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'आमोसहि' इन्हीं में से एक है।

[८५]

एईय एस जुत्तो सम्मं असुहस्स खवगमो नेओ ।
इयरस्स बंधगो तह सुहेणमिय मोक्खगामि त्ति ॥

इन लब्धियों से युक्त साधक सम्यक्तया अशुभ कर्मों का क्षय करता है, शुभ कर्मो का वन्ध करता है। यों शुभ या पुण्य में से गुजरता हुआ, शुभ, अशुभ से अतीत हो मोक्षगामी बन जाता है।

मनोभाव का वैशिष्ट्य—

[८६]

कायकिरियाए दोसा खविया मंडुयकचुन्नतुल्ल त्ति।
ते चेव भावणाए नेया तच्छारसरिस त्ति ॥

शारीरिक क्रिया द्वारा—मात्र देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट किये गये दोप मेंढक के चूर्ण के समान हैं। यही दोप यदि भावना—मनोभाव—अन्तर्वृत्ति की पवित्रता द्वारा क्षीण किये गये हों तो उन्हें मेंढक की भस्म या राख के सदृश समझना चाहिए।

ग्रन्थकार ने यहाँ दार्शनिक साहित्य में सुप्रसिद्ध 'मण्डूक-चूर्ण' तथा 'मण्डूक-भस्म' के उदाहरण से कायिक क्रिया एवं भावनानुगत क्रिया का भेद स्पष्ट किया है।

ऐसा माना जाता है कि मेंढक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े होकर मिट्टी में मिल जाएँ तो भी नई वर्षा का जल गिरते ही मिट्टी में मिले हुए वे शरीर के अंग परस्पर मिलकर सजीव मेंढक के रूप में परिणत हो जाते हैं।

यदि मेंढक का शरीर जलकर राख हो गया हो तो फिर कितनी ही वर्षा क्यों न हो, वह सजीव नहीं होता।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्ववैशारदी (योगसूत्र की टीका) में यह उदाहरण प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः तथ्य यह है, सद्बोधमय निष्ठा तथा भावपूर्वक जो सत् क्रिया की जाती है, वह दोषों को सर्वथा क्षीण कर देती है, जिससे वे पुनः नहीं उभर पाते, जैसे भस्म के रूप में बदला हुआ मेंढक का शरीर फिर कभी जीवित नहीं होता।

बाह्य क्रिया द्वारा दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, उपशम मात्र होता है, जिससे वे अनुकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं, जैसे टुकड़े-टुकड़े बना, मिट्टी में मिला मेंढक का शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है।

[८७]

एवं पुन्नं पि दुहा मिम्मयकणगकलसोवमं भणियं।
अन्नेहि वि इह मग्गे नामविवज्जासभेएण ॥

अन्य परम्परा के आचार्यों—शास्त्रकारों (बौद्धों) ने योग-मार्ग में इसका नाम-विपर्यास से—मात्र कथन-भेद से मिट्टी के घड़े तथा सोने के घड़े की उपमा द्वारा आख्यान किया है। भावना-वर्जित बाह्य क्रिया—तपः कर्म मिट्टी के घट के सदृश है एवं भावनानुप्राणित क्रिया स्वर्ण-कलश के सदृश है। है दोनों घट ही पर दोनों की मूल्यवत्ता में भारी अन्तर है।

यहाँ केवल विवेचन की शब्दावली में भिन्नता है, मूल तत्त्व एक ही है।

[८८]

तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्त त्ति।
होंति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ ॥

बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे काय-

पाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्तस्थिति शुद्ध होती है।

वास्तव में चित्त की परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है। शरीर लोक-व्यापृत हो सकता है क्योंकि शरीर का, इन्द्रियों का वैसा गुण-धर्म है पर चित्त में यह आसंग नहीं आना चाहिए। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित हुआ है, चित्त की रक्षा के लिए स्मृति तथा संप्रजन्य की रक्षा अपेक्षित है। धर्म में जिनका विधान किया गया है, जिनका निषेध किया गया है, उन्हें यथावत् स्मरण रखना स्मृति है। स्मृति को घर की रक्षा करने वाले द्वारपाल से उपमित किया गया है। द्वारपाल अवाञ्छित व्यक्ति को घर में प्रविष्ट नहीं होने देता, उसी प्रकार स्मृति अकुशल या पाप को नहीं आने देती। संप्रजन्य का अर्थ प्रत्यवेक्षण—काय और चित्त का निरीक्षण, संप्रेक्षण है। खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते—हर क्रिया करते वैसा करना नितान्त आवश्यक माना गया है। इससे शम उत्पन्न होता है, जिसके प्रभाव से चित्त समाहित होता है। चित्त के समाहित होने से यथाभूत-दर्शन होता है। बौद्ध आचार्यों ने बड़ा जोर देकर कहा है, चित्त के अधीन सर्वधर्म हैं तथा बोधि धर्म के अधीन है।

[८६]

एमाइ जहोचियभावणाविसेसाओ जुज्जए सव्वं।
मुयकाभिणिवेसं खलु निरूवियव्वं सबुद्धीए॥

प्रस्तुत विवेचन यथोचित रूप में भावना की विशेषता ख्यापित करता है। सद्बुद्धिशील योगाभ्यासी किसी भी प्रकार का दुराग्रह न रख उसे निरूपित करे—उसकी चर्चा करे, जिज्ञासु जनों तक उसे पहुँचाये।

विकास : प्रगति

[६०]

एएण पगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति।
तत्तो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चेव॥

इस प्रकार सामायिक की—समत्व-भाव की शुद्धावस्था प्रकट होती

है। उससे शुक्लध्यान सिद्ध होता है। फिर क्रमशः केवल-ज्ञान प्राप्त होता है।

[९१]

वासीचंदणकप्पं तु एत्थ सिट्ठं अओ च्चिय बुहेहिं।
आसयरयणं भणियं अओऽन्नहा ईसि दोसा वि॥

योगवेत्ताओं ने आशय-रत्न—अभिप्राय, रूप रत्न को—उत्तम भाव को वासि-चन्दन के सदृश कहा है। यदि अभिप्राय इस कोटि का—ऐसे पवित्र स्तर का न हो तो वहाँ किञ्चित् दोष भी बताया गया है।

[९२]

जइ तब्भवेण जायइ जोगसमत्ती अजोगयाए तओ।
जम्माइदोसरहिया होइ सदेगंतसिद्धि त्ति॥

यदि योगी के उसी भव में, जिसमें वह विद्यमान है, योग-समाप्ति—योग-साधना की सम्पन्नता या सम्पूर्णता सध जाए तो अयोग—मन, वचन तथा शरीर के योग—प्रवृत्तिक्रम से वह उपरत हो जाता है और निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

[९३]

असमत्ती य उ चित्तेसु एत्थ ठाणेसु होइ उप्पाओ।
तत्थ वि य तयणुबंधो तस्स तहब्भासओ चेव॥

यदि उसी भव में योगी की योग-साधना समाप्त नहीं होती तो उसका अनेक स्थानों में जन्म होता है। पूर्वभव के अभ्यास के कारण विभिन्न स्थानों में उसके निरन्तर योग-संस्कार बना रहता है।

[९४]

जह खलु दिवसब्भत्थं राईए सुविणयम्मि पेच्छंति।
तह इह जम्मब्भत्थं सेवंति भवंतरे जीवा॥

मनुष्य को दिन में जिसका अभ्यास रहा हो—जिसमें वह बार-बार प्रवृत्त रहा हो, रात में उसी (विषय) को वह स्वप्न में देखता है। उसी

प्रकार एक जन्म में जीवों को जिसका अभ्यास रहा हो, जन्मान्तर में वे संस्कार रूप में उसे प्राप्त करते रहते हैं।

[६५]

ता सुद्धजोगमग्गोच्चियम्मि ठाणम्मि एत्थ वट्टेज्जा।
इह परलोगेसु दढं जीवियमरणेसु य समाणो॥

योगी को चाहिए कि वह शुद्ध योग मार्गोचित स्थान में प्रवृत्त हो—वह ऐसे कार्य करे, जो निर्दोष योग-मार्ग के अनुरूप हों। वह इस लोक तथा परलोक में, जीवन तथा मृत्यु में स्थिर भाव से समान बुद्धि रखे।

[६६]

परिसुद्धचित्तरयणो चएज्ज देहं तहंतकाले वि।
आसन्नमिणं नाउं अणसणविहिणा विसुद्धेणं॥

जिसका चित्त रूपी रत्न परिशुद्ध—अत्यन्त निर्मल है, ऐसा योगी अपना अन्त समय समीप जानकर विशुद्ध अनशन-विधि से—आमरण अनशन स्वीकार कर देह का त्याग करे।

काल-ज्ञान—

[६७]

नाणं चागमदेवयपइभासुविणंधराय दिट्ठीओ।
नासच्छितारगादंसणाओ कन्नगसवणाओ॥

आगम—अष्टांग निमित्त विद्या, ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि के सहारे, देव-सूचित संकेत द्वारा, प्रतिभा—स्वयं आविर्भूत अन्तर्-आभास द्वारा, स्वप्न द्वारा तथा नासिका, नेत्रतारक व कर्ण से सम्बद्ध विशेष लक्षणों द्वारा मृत्यु के समय का ज्ञान होता है।

आंगिक चिन्ह तथा शकुन आदि के आधार पर मृत्यु-काल-ज्ञान आदि के सन्दर्भ में भारतीय वाङ्मय में काफी चिन्तन-मन्थन हुआ है। वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी धर्म-परम्पराओं में इस पर पुष्कल साहित्य रचा गया। जैन आगम वाङ्मय के बारहवें अंग दृष्टिवाद में, जो अब लुप्त है, यह विषय

विस्तार से व्याख्यात था, ऐसा उत्तरवर्ती आचार्यों ने उल्लेख किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में नाड़ी, बाह्य लक्षण, नेत्र, कान, मस्तक, शकुन, उपश्रुति, लग्न, यन्त्र, विद्या-प्रयोग आदि द्वारा मृत्यु-काल के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ टीका में अन्य आचार्यों का अभिमत उपस्थित करते हुए दो श्लोक उद्‌धृत किये हैं, जिनका आशय इस प्रकार है—

"जिनकी आयु क्षीण हो चुकती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल नहीं देख पाते। यहाँ अरुन्धती जिह्वा, ध्रुव नासिका के अग्रभाग, विष्णुपद दूसरे के नेत्र की कनीनिका देखने पर दीखने वाली अपनी कनीनिका तथा मातृमण्डल भ्रुवों के अर्थ में प्रयुक्त है।"[1]

[९८]

सुहसावयाइभक्खण-समणायमणुद्धरा आट्ठिवोओ।
गंधपरिद्दाओ तहा कालं जाणंति समयन्नू॥

स्वप्न में हिंसक—शिकारी जानवरों द्वारा कोई अपने को खाया जाता देखे, स्वप्न में निर्ग्रन्थ यति, संन्यासी या तापस को देखे, देह में एक विशेष प्रकार की गन्ध आने लगे अथवा उसकी नासिका गन्ध-ग्रहण करने में अशक्त हो जाये—इनके आधार पर शास्त्रवेत्ता मृत्यु का समय जान जाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्वप्न के सन्दर्भ में सूचित किया

---

१. अरुन्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमण्डलम्॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुवं नासाग्रमुच्यते।
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं भ्रुवः स्यान्मातृमण्डलम्॥
—योगशास्त्र ५वें प्रकाश के १३६वें श्लोक की व्याख्या के अन्तर्गत उद्‌धृत।

है कि यदि कोई स्वप्न में अपने को कुत्ते, गीध, कौए या दूसरे निशाचर प्राणियों द्वारा खाया जाता देखे अथवा गधे, ऊँट आदि पर अपने को सवार देखे तो उसकी (एक वर्ष में) मृत्यु हो जाती है।[1]

ज्ञातव्य है कि मृत्यु के समय की जानकारी उस समय विशेष उपयोगी तथा हितावह होती है, जब व्यक्ति आमरण अनशन स्वीकार किये हुए अत्यन्त शुद्ध परिणामों के साथ मृत्यु का स्वागत करने को उद्यत हो। मृत्यु के ठीक समय का ज्ञान होने पर उसका मनोबल मजबूत होता है, आत्मपरिणाम और सुस्थिर बनते हैं। क्योंकि उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट रहता है कि इतने से समय के लिए उसे इस देह से इस जगत् में और रहना है। यह थोड़ा-सा समय, जो उसके हाथ में है, जितने उज्ज्वल, निर्मल एवं पवित्र परिणामों के साथ व्यतीत करेगा, उतना ही वह सौभाग्यशाली होगा, वह धन्य हो जायेगा।

अनशन-शुद्धि में आत्मपराक्रम—

[९९]

अणसणसुद्धीए इहं जत्तोऽतिसएण होइ कायव्वो।
जल्लेसे मरइ जओ तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥

अनशन स्वीकार करने के बाद उसकी शुद्धि हेतु साधक को विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए। क्योंकि कोई व्यक्ति जिस लेश्या—अध्यवसाय या परिणामों की धारा में प्राण छोड़ता है, वह वैसे ही लेश्यायुक्त स्थान में उत्पन्न होता है।

[१००]

लेसा य वि आणाजोगओ उ आराहगो इहं नेओ।
इहरा असइं एसा वि हंतऽणाइम्मि संसारे ॥

उत्तम लेश्या में आज्ञायोग—जिन महापुरुषों ने जीवन में सत्य का साक्षात्कार किया, उनके अनुभव-प्रसूत पथ दर्शनरूप शास्त्र द्वारा निरूपित

---

१ स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्वगृध्रकाकनिशाचरैः।
उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृतिः ॥
—योगशास्त्र ५. १३७

विधि-निषेधमूलक भाव जुड़ा हो, सहज रूप में अनुतस् हो, तभी व्यक्ति मोक्ष का आराधक कहा जा सकता है, अन्यथा वैसी लेश्या तो इस अनादि जगत् में अनेक बार आती ही है। अर्थात् यदि लेश्या उत्तम भी हो, तो भी आज्ञा-योग के बिना जीवन का साध्य सधता नहीं।

[१०१]

ता इय आणाजोगो जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं ।
एसो च्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य ॥

अतएव अयोग—अयोगी गुणस्थान, जहाँ मानसिक, वाचिक तथा कायिक योग—प्रवृत्ति सर्वथा निरस्त हो जाती है, चाहने वाले साधक को आज्ञायोग में सम्यक्तया प्रयत्नशील रहना चाहिए—तदनुरूप विधि-निषेध का यथावत् पालन करते रहना चाहिए। इससे भव—संसार—जन्ममरण के चक्र से विरह—वियोग या पार्थक्य तथा सिद्धि—सिद्धावस्था—मोक्ष से शाश्वत काल के लिए अविरह—योग—संयोग हो जाता है—साधक मोक्ष से योजित हो जाता है; जुड़ जाता है।

'भवविरह' शब्द द्वारा ग्रन्थकार ने अपने अभिधान का भी सूचन किया है। □

॥ योग शतक समाप्त ॥
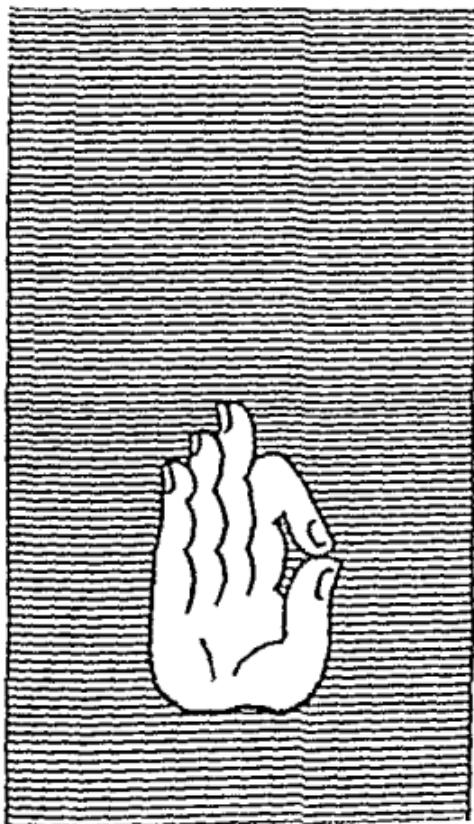
योगविंशिका

आसन का अर्थ बैठना है। सब आसन बैठकर नहीं किये जाते। कुछ आसन बैठकर, कुछ सोकर तथा कुछ खड़े होकर किये जाते हैं। देह की विभिन्न स्थितियों में अवस्थित होना स्थान शब्द से अधिक स्पष्ट होता है।

ऊर्ण—योगाभ्यास के सन्दर्भ में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्र—संक्षिप्त शब्द-समवाय का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है।

अर्थ—शब्द-समवाय-गर्भित अर्थ के अवबोध का व्यवसाय—प्रयत्न यहाँ अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है।

आलम्बन—ध्यान में बाह्य प्रतीक आदि का आधार आलम्बन है।

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना अनालम्बन कहा गया है। यह निर्विकल्प, चिन्मात्र अथवा समाधिरूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है, क्रमशः स्थान-आसन तथा ऊर्ण—सूत्रोच्चारण में संस्थित एवं क्रियाशील होने के कारण—क्रिया-प्रधानता से इन दोनों की संज्ञा क्रिया योग है।

अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन का सम्बन्ध ज्ञान
इस कारण इनका ज्ञानयोग में समावेश किया गया है।

[३]

[४]

इक्किक्को य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीईए ॥

तात्त्विक दृष्टि योगशास्त्र-प्रतिपादित परिपाटी के अनुसार इन पाँचों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि—ये चार-चार भेद हैं। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन—इन पाँचों की ये चार-चार कोटियाँ - क्रमिक विकासोन्मुख स्थितियाँ, रूप या प्रकार हैं।

[५-६]

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।
सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्ती उ ॥

तह चेव एयबाहग-चिंतारहियं थिरत्तणं नेयं ।
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥

योगयुक्त—योगाराधक पुरुषों की कथा—चर्चा में प्रीति, आन्तरिक उल्लास आदि उत्तम, अद्भुत भावों से युक्त इच्छा—स्पृहा, उत्कण्ठा योग का इच्छा संज्ञक भेद है।

जिसमें उपशम-भावपूर्वक योग का यथार्थतः पालन हो, वह प्रवृत्ति संज्ञक भेद है।

बाधाजनक विघ्नों की चिन्ता से रहित योग का सुस्थिर परिपालन स्थिरता कहा जाता है।

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन, अनालम्बन रूप योग साधक की आत्मा में तो शान्ति उत्पन्न करता ही है, जब वह उस योगी के सम्पर्क में आने वाले अन्यान्य लोगों को भी सहज रूप में उत्प्रेरित करे, तब सिद्धि-योग कहा जाता है।

[७]

एए य चित्तरूवा तहाखओवसमजोगओ हुंति ।
तस्स उ सद्धापीयाइ जोगओ भव्वसत्ताणं ॥

श्रद्धा, प्रीति या उत्साह के कारण भव्य—मोक्षगमनयोग्य प्राणियों के इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग तथा सिद्धि-योग, जो भिन्न-भिन्न रूप लिए हुए हैं—परस्पर भिन्न हैं, क्षयोपशम की तरतमता के कारण अनेक —असंख्य प्रकार के होते हैं।

अनुभाव-प्राकट्य—

[८]

अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पसमु त्ति।
एएसि अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

इच्छा-योग आदि के सध जाने पर क्रमशः अनुकम्पा—दुःखित प्राणियों को देखकर उन पर करुणा, निर्वेद—आत्मस्वरूप का बोध हो जाने से जगत् मे विरक्ति, संवेग—मोक्ष प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा तथा प्रशम—क्रोध, विषय-वासना आदि का उपशम—ये अनुभाव—अन्तःस्थिति के ज्ञापक, सूचक कार्य स्वयं उद्भासित होते हैं।

सम्यक्त्व का उद्भव होने पर भी अनुकम्पा, निर्वेद आदि उत्पन्न होते हैं, फिर यहाँ उनके उद्भूत होने का क्या विशेष अभिप्राय है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है। इस सन्दर्भ में ज्ञाप्य है कि सम्यक्त्व होने पर इनकी जो प्रतीति होती है, वह सामान्य है तथा यहाँ इनका अनुभावों के रूप में जो उल्लेख किया गया है, वह विशेषता-द्योतक है। अर्थात् इच्छा-योग आदि के सिद्ध हो जाने के फलस्वरूप अनुकम्पा आदि कोमल, सात्त्विक वृत्तियों का जीवन में असाधारण उद्रेक हो जाता है।

[९]

एवं ठियम्मि तत्ते नाएण उ जोयणा इमा पयडा।
चिइवंदणेण नेया नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥

योग की तात्त्विक स्थिति—उसके सामान्य-विशेष स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है। चैत्य-वन्दन के दृष्टान्त से तत्त्ववेत्ता उसे और स्पष्टतया समझें।

[१०-११]

अरिहंतचेइयाणं करेमि उस्सग एवमाईयं ।
सद्धाजुत्तस्स तहा होइ जहत्थं पयन्नाणं ॥
एवं चऽत्थालंबण जोगवओ पायमविवरीयं तु ।
इयरेसिं ठाणाइसु जत्तपराणं परं सेयं ॥

चैत्य-वन्दन के सन्दर्भ में जब कोई श्रद्धायुक्त पुरुष "अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं ......" इत्यादि चैत्य-वन्दन-सूत्र का यथावत् शुद्ध उच्चारण करता है, तब उसे जागरूकतावश चैत्य-वन्दन-सूत्र के पदों का यथार्थ ज्ञान होता है।

यह यथार्थ ज्ञान अर्थ एवं आलम्बनमूलक योग को साध लेने से अविपरीत—साक्षात् मोक्षप्रद है।

जो अर्थ एवं आलम्बन योग से रहित हैं, केवल स्थान तथा ऊर्ण योग के साधक हैं, उनके लिए यह परम्परा से मोक्षप्रद है।

तात्पर्य यह है, यह सदनुष्ठान दो प्रकार का है—पहला अमृतानुष्ठान तथा दूसरा तद्धेतु-अनुष्ठान। पहला साक्षात्—शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है तथा दूसरा परम्परया—विलम्ब से मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है।

[१२]

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ ।
ता अणुरूवाणं चिय कायव्वो एयविन्नासो ॥

जो व्यक्ति अर्थ-योग एवं आलम्बन-योग से रहित है, स्थान-योग तथा ऊर्ण-योग से भी शून्य है, उसका यह (चैत्य-वन्दनमूलक) अनुष्ठान केवल कायिक चेष्टा है। अथवा महामृषावाद—निरी मिथ्या प्रवञ्चना है। अतः अनुरूप—अधिकारी, सुयोग्य व्यक्तियों को ही चैत्य-वन्दन-सूत्र सिखाना चाहिए।

[१३]

जे देसविरइजुत्ता जम्हा इह वोसरामि कायं ति।
सुव्वइ विरईए इमं ता सम्मं चिंतियव्वमिणं ॥

जो देश-विरत—अंशतः विरत हैं—व्रतयुक्त (पंचम गुणस्थानवर्ती) हैं, वे इसके अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्य-वन्दन-सूत्र में 'कायं वोसरामि' देह का व्युत्सर्ग करता हूँ, इन शब्दों से कायोत्सर्ग की जो प्रतिज्ञा प्रकट होती है, वह सुव्रती के विरति-भाव या व्रत के कारण ही घटित होती है। इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में इतना और जोड़ लेना चाहिए—देशविरत से उच्च-स्थानस्थ षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक तत्त्वतः इसके अधिकारी है तथा देश-विरत से निम्नस्थानस्थ अपुनर्बन्धक या सम्यक्दृष्टि व्यवहारतः इसके अधिकारी माने गये हैं।

[१४]

तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबणमित्थ जं स एमेव।
सुत्तकिरियाइनासो एसो असमंजसविहाणा ॥

तीर्थ के उच्छेद—नाश की बात कहकर अर्थात् वैसा न करने से तीर्थ उच्छिन्न हो जायेगा, ऐसा प्रतिपादित कर—बहाना बनाकर विधिशून्य अनुष्ठान का सहारा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि अविधि का आश्रय लेने से असमंजस— शास्त्रविरुद्ध क्रम प्रतिष्ठित होता है। इससे शास्त्रविहित क्रिया आदि का लोप हो जाता है। यही तीर्थोच्छेद है। अर्थात् ऐसा करने से तीर्थ के अनुच्छेद के नाम पर वास्तव में तीर्थ का उच्छेद हो जाता है।

[१५]

सो एस वंकओ चिय न य सयमयमारियाणमविसेसो।
एयं पि भावियव्वं इह तित्थुच्छेयभीरूहिं ॥

अविधि के पक्षपात एवं आग्रहवश तथाकथित गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश से जो शास्त्र-निरूपित विधि का नाश होता है, वह वक्र—विपरीत या अनिष्ट फलप्रद है।

कोई स्वयं मर जाएँ अथवा दूसरों द्वारा मारे जाएँ, यह एक जैसी बात नहीं है। अज्ञान के कारण स्वयं मर जाने वालों की मौत के लिए दूसरा कोई दोषी नहीं होता पर जो दूसरों द्वारा मारे जाते है, उनकी मौत का

दोष तो मारने वालों पर ही है। इसी प्रकार जो स्वयं अज्ञान के कारण विधिशून्य अनुष्ठान में लगे है, उनका दोष किसी दूसरे पर नहीं है पर जो दूसरों से उपदिष्ट होकर वैसा करते हैं, उसका दोष तो उन उपदेशक गुरुओं को है ही।

तीर्थोच्छेद का कल्पित भय खड़ा करने वालों को चाहिए, वे इस पर गहराई से चिन्तन करें।

[१६]

मुत्तूण लोगसन्नं उड्ढूण य साहुसमयसब्भावं ।
सम्मं पयट्टियव्वं बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥

लोक-संज्ञा—गतानुगतिक लोक-प्रवाह का त्याग कर, शास्त्र-प्रतिपादित शुद्ध सिद्धान्त ग्रहण कर प्रबुद्ध या विवेकशील व्यक्ति को अत्यन्त कुशल बुद्धिपूर्वक साधना में सम्यक्तया प्रवृत्त होना चाहिए।

अनुष्ठान-विश्लेषण—

[१७]

कयमित्थ पसंगेणं ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु ।
हियमेयं विन्नेयं सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥

प्रस्तुत प्रसंग में इतना विवेचन पर्याप्त है। अब मूल विषय को लें—

स्थान-योग, ऊर्ण-योग, अर्थ-योग, आलम्बन-योग तथा अनालम्बन-योग में जो यत्नशील—अभ्यासरत हों, उन्हीं के अनुष्ठान को सदनुष्ठान समझना चाहिए।

[१८]

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं ।
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥

प्रीति, भक्ति, आगम—शास्त्रवचन तथा असंगता—अनासक्ति के सम्बन्ध से यह अनुष्ठान चार प्रकार का है, यों समझना चाहिए। इनमें अन्तिम असंगानुष्ठान अनालम्बन-योग है।

अनुष्ठान के इन चारों भेदों का विवेचन इस प्रकार है :—

प्रीति-अनुष्ठान—योगोन्मुख क्रिया में इतनी अधिक प्रीति हो कि व्यक्ति अन्यान्य क्रियाओं को छोड़कर केवल उसी क्रिया में अत्यन्त तीव्र भाव से यत्नशील हो जाए, इसे प्रीति-अनुष्ठान कहा जाता है।

भक्ति-अनुष्ठान—आलम्बनात्मक विषय के प्रति विशेष आदर-बुद्धि-पूर्वक तत्सम्बद्ध क्रिया में तीव्र भाव से प्रयत्नशील होना भक्ति-अनुष्ठान है।

आगमानुष्ठान—वचनानुष्ठान—शास्त्रवचनावली की ओर दृष्टि रखते हुए योगी की जो साधनानुरूप समुचित प्रवृत्ति होती है, वह आगमानुष्ठान या वचनानुष्ठान है।

असंगानुष्ठान—जब संस्कार साधना में इतने दृढ़ ढल जाएँ, ओत-प्रोत हो जाएँ कि तन्मूलक प्रवृत्ति करते समय शास्त्र का स्मरण करने की कोई अपेक्षा ही न रहे, धर्म जीवन में एकरस हो जाए, वह असंगानुष्ठान की स्थिति है।

प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त रूप में योग के अस्सी भेद बतलाये हैं। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के रूप में योग के पाँच भेद हुए। इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि के रूप इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद और हुए। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के ये चार-चार प्रकार हैं। यों ये बीस भेद बनते हैं। इन बीस में से प्रत्येक के प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, आगमानुष्ठान तथा असंगानुष्ठान—ये चार-चार भेद हैं। इस प्रकार कुल अस्सी भेद हो जाते हैं।

[१९]

आलंबणं पि एयं रूविमरूवी य इत्थ परमु त्ति।
तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥

प्रस्तुत कृति में किये गये विवेचन के अनुसार 'आलम्बन' तथा 'अनालम्बन' के रूप में ध्यान के दो भेद हैं। आलम्बन या—ध्येय भी रूपी—मूर्त, स्थूल या इन्द्रियगम्य तथा अरूपी—अमूर्त, सूक्ष्म या इन्द्रिय-अगम्य के रूप में दो प्रकार का है। सालम्बन ध्यान में रूपी आलम्बन रहता है तथा अनालम्बन ध्यान में अरूपी। परम मुक्त आत्मा अरूपी आलम्बन है।

उनके गुणों से अनुभावित ध्यान सूक्ष्म—अतीन्द्रिय होने से अनालम्बन योग कहा जाता है।

[२०]

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।
तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वाणं ॥

इस अनालम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर मोह-सागर तीर्ण हो जाता है। क्षपक-श्रेणी प्रकट हो जाती है। फलतः केवलज्ञान उद्भासित होता है तथा अयोग—प्रवृत्तिमात्र के अपगम या अभाव रूप योग के सध जाने पर परम निर्वाण प्राप्त हो जाता है, जो योगी की साधना का चरम लक्ष्य है।

□

॥ योग विंशिका समाप्त ॥

श्लोकानुक्रमणिका

- ☐ योग दृष्टिसमुच्चय
- ☐ योग बिन्दु
- ☐ योग शतक
- ☐ योग विंशिका

श्लोकानुक्रमणिका

योगदृष्टि समुच्चय

□□

योगबिन्दु

□□

योगशतक : गाथानुक्रमणिका

□□

योगविंशिका : गाथानुक्रमणिका